भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या ३४

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन

[सन् १८५७ — १९४७]

१ सन् १८५७ का संग्राम
२ कांग्रेस आन्दोलन
३ आतंक-मार्ग
४ सन् १९४२ की जन-क्रान्ति
आजाद-हिन्द आन्दोलन
नौसैनिक संघर्ष

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या ३४

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन

[सन् १८५७ — १९४७]

लेखक

भारतीय जागृति, देशी राज्यों की जन-जागृति
आदि पुस्तकों के रचयिता
भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, इलाहाबाद

मुद्रक

गयाप्रसाद तिवारी बी० काम०, नारायण प्रेस, प्रयाग

पहला संस्करण] सन् १९४९ ई० [मूल्य, सवा रुपया *

*प्रकाशक से इस ग्रन्थमाला की दो रुपए या अधिक की पुस्तकें लेनेवाले पाठकों को विना मूल्य, उपहार।

विषय सूची

—(*)—

यह उपहार

अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में यह उपहार उपस्थित करते समय हम उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं। उनकी ही कृपा और सहयोग से यह ग्रन्थमाला अपने चौतीस वर्ष के जीवन में हिन्दी संसार को चौतीस पुस्तकें दे पाई है, जिनके कुल मिला कर ८६ संस्करण हुए हैं।

यह पुस्तक भारतवर्ष के सन् १८५७ से १९४७ तक के स्वाधीनता-आन्दोलन की साधारण सी झांकी है। इस ग्रन्थमाला की स्थापना (सन् १९१५) के समय यह आन्दोलन कांग्रेस द्वारा विधान-मार्ग पर चलाया जा रहा था। साथ ही अनेक उत्साही व्यक्ति उससे संतुष्ट न हो आतंक-मार्ग के पथिक बने हुए थे। (प्रथम) योरपीय महायुद्ध के बाद जब कि भारत स्वराज्य की आशा लगाए बैठा था, उसे मिला दमनकारी रोलेट एक्ट, रोमांचकारी जलियांवाला-बाग-कांड और सभ्यता को कलंकित करनेवाली इसी तरह की अन्य बातें। परन्तु यह अभिशाप एक तरह से वरदान बन गया। भारत के संकट ने उसे एक उपयुक्त पथ-प्रदर्शक दे दिया। म० गांधी ने सत्याग्रह और असहयोग का सूत्रपात करके हमारे स्वधीनता-आन्दोलन का स्वरूप बदल दिया; उसे जान नहीं, आत्मा प्रदान करदी। आपके अस्त्र थे सत्य और अहिंसा। संसार के लिए यह एक नया ही प्रयोग था। इसकी सफलता में अच्छे-अच्छों को शंका थी। पर अपने महात्मा-नेता में विश्वास रखते हुए प्रायः भारतवासी इस प्रयोग में लगे ही रहे; और आखिर सन् १९४७ में सफल हो गए। यद्यपि बीच में कभी-कभी हिन्सात्मक कार्यों का भी आश्रय लिया गया, हमारा आन्दोलन अधिकतर अहिंसात्मक ही रहा है। इसका मनुष्य जाति के इतिहास में एक विशेष स्थान है।

आइए जरा सोचें कि पिछले नव्वे वर्षों में हमारे बुजुर्गों या पूर्वजों ने, पीछे हमारी मां-बहिनों और भाइयों तथा मित्रों ने, और हमारे युवकों और विद्यार्थियों ने जननी-जन्मभूमि के उद्धार के लिए क्या-क्या कार्य किया, क्या-क्या कष्ट सहा, कैसे बहुधा बिना प्रकाश में आए ही अपना जीवन न्यौछावर कर दिया। सम्भव है, आन्दोलन में भाग लेने-वाले कुछ व्यक्तियों के विचारों से हम सहमत न हों ; और, कुछ से तो जाने-अनजाने बड़ी भूलें या गलतियाँ भी हुई हैं। पर इनमें से किसी के प्रति हमें अब क्रोध या रोष नहीं करना है। ऐसी बातों के लिए हमें अवकाश ही न होना चाहिए ; कारण, हमें दूसरा बहुत महत्व-पूर्ण कार्य करना है। प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा के लिए तरह-तरह के रचनात्मक कार्यों में ही हमारी सब शक्ति का उपयोग हो।

पिछले दिनों 'भारतीय जागृति' का नया (पाँचवाँ) संस्करण छपा है। उसके अन्तिम भाग में राजनैतिक जागृति का विवेचन है। उसमें हमारे विविध स्वाधीनता-आन्दोलनों का उल्लेख करते हुए यह विचार हुआ कि इनके सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा जाय। पर इसके लिए उस पुस्तक में गुञ्जायश नहीं थी। आखिर, इस विषय पर एक छोटी सी रचना अलग ही करने का निश्चय किया गया। उसी का फल यह पुस्तक है। यह हमारी बीमारी में लिखी और छपाई गई है। किसी तरह यह पूरी हो गई, इसे हम ईश्वर का अनुग्रह मानते हैं। इसमें कई लेखकों के ग्रन्थों तथा लेखों से सहायता मिली है। मित्रवर श्री० शंकर-दयालु श्रीवास्तव ने विचार-विनिमय में बहुत सहयोग प्रदान किया है। इन सब के हम हृदय से आभारी हैं।

विनीत

भगवानदास केला

पहला अध्याय

आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि

सुनो ऐ साकिनाने बज़्मे हस्ती,
सदा क्या आ रही है, आसमां से।
कि आज़ादी का एक लमहा है बेहतर,
गुलामी की हयाते जावदां से॥

ऐ पृथ्वी के निवासियो, सुनो! आकाश-वाणी क्या कह रही है — आजादी का एक क्षण गुलामी के अमर जीवन से श्रेष्ठ है।

—'जोश'

मनुष्य का स्वाधीनता-प्रेम — हमें स्वाधीनता कितनी अच्छी लगती है! कलकल करती नदी या कोई झरना देख कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। सबेरे या शाम के समय वृक्षों पर पक्षियों की चहचहाहट सुनकर कैसी खुशी होती है! जंगल में हिरन या खरगोश आदि के दौड़ने का दृश्य कितना सुहावना मालुम होता है! प्रकृति, पशु और पक्षियों की स्वाधीनता में आनन्द लेनेवाला मनुष्य स्वयं भी स्वाधीन होना क्यों न चाहेगा! वास्तव में स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति को बहुत प्यारी होती है; और समाज में रह कर सामाजिक नियमों को पालन करने का जो बन्धन मनुष्य स्वीकार करता है, उसका भी एक मुख्य कारण यह है कि वह अपनी विविध भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सके।

पराधीनता से आर्थिक हानि—दुर्भाग्य का विषय है कि बलवान आदमी अपने से कमजोर या कम बुद्धिमान दूसरे आदमी को

अपना दास, नौकर, या गुलाम बनाने लगा, और एक जाति या राष्ट्र दूसरे देशों पर अपनी हकूमत जमाने लगा। यद्यपि लोभ या अज्ञान में कुछ आदमी दूसरों की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, और अपनी जाति या देश को पराधीन करने के साधन भी बन जाते हैं, साधारण-तया पराधीनता बहुत अखरनेवाली चीज है। पराधीन देश या जाति के आर्थिक उन्नति के साधनों का ह्रास हो जाता है। वहाँ के वे मुट्ठी-भर निवासी भले ही कुछ सुखमय जीवन व्यतीन करें, जो शासकों की चाप-लूसी या खुशामद करते हैं, या उनके स्वार्थ को पूर्ति के लिए अपने भाइयों के शोषण में मदद देते हैं। उन्हें छोड़ कर जनसाधारण तो आर्थिक संकट में ही रहने वाला ठहरा।

स्वास्थ्य की हानि—जब लोगों को खाने के लिए अच्छा और यथेष्ट अन्न आदि नहीं मिलता तो उनका स्वास्थ्य बिगड़ना स्वाभाविक ही है। आदमी घटिया और खराब चीजें खा कर गुजर करते हैं। इससे वे बारबार बीमार पड़ते हैं। बहुत से आदमी थोड़ी उम्र में मर जाते हैं; और, जो कुछ-अधिक समय जीते हैं, वे रोगी और कमजोर होने से बहुत दुखमय जीवन बिताते हैं। उनकी कार्य करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है, वे परावलम्बी होते हैं, उन्हें जीवन में कोई आनन्द नहीं रहता, वे किसी तरह से अपने दिन पूरे किया करते हैं। इस प्रकार पराधीन देश आधि-व्याधि और महामारियों के घर बन जाते हैं, और वहाँ तरह-तरह के रोगों से ग्रस्त, कमजोर और शोकमग्न लोगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्—मनुष्य के शरीर के साथ उसके मनका घनिष्ट सम्बन्ध होता है। रोगी शरीर वाले मनुष्यों का मन स्वस्थ नहीं हो सकता। उनसे स्वाभिमान और सच्चरित्र की आशा नहीं की जा सकती। वे बात-बात में अपने आपको हीन समझते हैं और शासक जाति के आदमियों तथा शासकों के कृपापात्रों को उच्च श्रेणी का समझते हैं। उनमें छल, कपट, खुशामद, बेईमानी, रिश्वतखोरी

और जी-हजूरी आदि बढ़ जाती है। ये बातें मन की अधोगति करनेवाली होती हैं। पर कुछ दिन इस तरह का जीवन बितानेवाले आदमियों के लिए ये स्वाभाविक हो जाती हैं। उनमें यह सोचने की शक्ति ही नहीं रहती कि उनके जीवन में कुछ गुणों की कमी हो रही है। वे ईर्ष्या-द्वेष, कलह, नर-हत्या, चोरी, डाका आदि जो-कुछ भी करें, वह कम ही है। यदि किसी देश के आदमियों में, बहुत समय पराधीन रहने के बाद भी प्रेम, दया, परोपकार और लोकसेवा आदि की कुछ भावना बनी रहती है, तो उनके पूर्वजों से प्राप्त संस्कारों का फल समझना चाहिए; अन्यथा, पराधीनता तो इन गुणों को नष्ट ही करती रहती है।

आत्मिक पतन—पराधीनता से एक और भयंकर क्षति यह होती है कि जनता का आत्मिक पतन हो जाता है। कीचड़ और मल-मूत्र में रहनेवाले जीव अपने उस वातावरण में ही सुख मानते हैं, उससे बाहर आने की उनकी इच्छा नहीं होती; उसी प्रकार पराधीन देश के आदमियों की स्वाधीनता की भावना नष्ट हो जाती है। वे सोचते हैं कि यदि वे स्वाधीन हो गए तो उनका जीवन दूभर हो जायगा। वे विदेशी प्रभुओं को अपना आश्रयदाता और रक्षक समझकर पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह करना छोड़ देते हैं।

आर्थिक क्षति की तो पूर्ति हो सकती है; देश के दरिद्रता-जन्य कष्टों का बहुत-कुछ निवारण हो सकता है। परन्तु गया हुआ आत्म-बल सहज ही वापिस नहीं आता। विदेशी सरकारों का हमेशा यह प्रयत्न रहता है कि उनके अधीन देश के आदमी रुचि, विचार, भाषा और भावों में शासक जाति वालों की नकल करने लगें और शासकों की सभ्यता के पूरे भक्त बन जायँ। उन्हें इस बात में जितनी अधिक सफलता मिल जाती है, अधीन जाति की पराधीनता उतनी ही अधिक स्थायी हो जाती है।

भारतवर्ष और स्वाधीनता—भारत का वास्तविक इतिहास जाननेवालों को अच्छी तरह मालूम है कि इस देश के निवासी चिरकाल तक स्वाधीनता का यथेष्ट महत्व समझते रहे। वे न तो स्वयंपराधीन हुए, और न उन्होंने दूसरों को पराधीन बनाने का दुष्कर्म किया। दो हजार वर्ष पहले जो आक्रमणकारी यहाँ आए, उन्हें पग-पग पर यहाँ वालों का घोर विरोध सहना पड़ा, और बड़ी मुश्किल से वे किसी छोटे से भू-भाग को अपने अधीन कर पाए; वह भी बहुत ही थोड़े समय के लिए। फिर उस समय यहाँ का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन इस प्रकार का था कि जो जातियाँ बाहर से आईं, वे पीछे यहाँ की ही हो गईं। यूनानी हूण, सिथियन आदि के भारतीयों से अलग होने का पता नहीं लगता।

मुसलमानों के आक्रमण के समय परिस्थिति कुछ बदल गई थी, तथापि यह ध्यान में रखने की बात है कि वे कभी भी सारे देश को अपने अधीन नहीं कर पाए। दूसरी मार्के की बात यह है कि वे यहाँ के ही निवासी बन गए और कुछ विशेष अपवादों को छोड़कर वे यहाँ के अन्य निवासियों से हिल-मिल कर राज-काज करने लगे। उनका हित जनता के हित में ही था। अस्तु, पीछे किस प्रकार, किन परिस्थितियों से यहां योरपियनों का आना हुआ, और अन्त में अंगरेजों ने छल, बल, कौशल से यहाँ अपना अड्डा जमाया, उसके विस्तार में न जाकर हमें यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना है कि भारतवासियों ने इस देश के किसी हिस्से की अधीनता को चुपचाप सहन नहीं किया; परतंत्रता को बेड़ियों को काटने का सिलसिला यहाँ बना ही रहा।

हमारी कुछ कमजोरियाँ; विश्वासघात—हाँ, हमारी कुछ कमजोरियाँ भी रही हैं। पहली बात तो यह है हमारे यहाँ यदि एक ओर अनेक वीर और वीरांगनाएँ स्वाधीनता के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार रही हैं, बालकों और बूढ़ों ने मातृ-वेदी पर हंसते-हंसते अपनी आहुतियाँ दी हैं, तो ऐसे कपूत, विश्वासघाती

और देशद्रोहियों का भी अभाव नहीं रहा है, जिन्होंने अपने निजी स्वार्थ या प्रतिष्ठा के खातिर 'घर-का-भेदी विभीषण' बनकर शत्रु का साथ दिया और देश-भाइयों का सारा प्रयत्न चौपट कर दिया। हम जब भी पराधीन हुए हैं तो प्रायः उसका एक खास कारण हमारे जयचन्द और मीरजाफर हुए हैं। जैसा पाठकों को आगे के पृष्ठों में मालूम होगा, स्वाधीनता के हमारे अनेक प्रयत्न बहुधा इसलिए विफल हुए हैं कि भारतीय कहलाने वाले किसी व्यक्ति ने अपने आपको कुछ चांदी के टुकड़ों के लिए बेच दिया, या अपने नश्वर शरीर के मोह में फंसकर वह सरकारी गवाह आदि बनकर हमारे सारे संगठन को छिन्न-भिन्न करने का साधन हो गया।

मातृभूमि के विशाल रूप की कल्पना का अभाव—दूसरी बात यह हुई कि प्रायः हम लोगों के सामने मातृभूमि का विशाल स्वरूप नहीं रहा। बहुधा हमने अपने गाँव, नगर, या जिले को, अथवा बहुत हुआ तो भारत के एक प्रान्त को अपनी 'मातृभूमि' या 'देश' समझा। इस प्रकार जब हमने अपनी 'मातृभूमि' की रक्षा का प्रयत्न किया तो वास्तव में वह प्रयत्न भारत के एक छोटे से हिस्से के लिए ही रहा; उसके करने में हमने इस देश के दूसरे हिस्सों की स्वाधीनता की उपेक्षा की, और कई बार तो हमने इन दूसरे हिस्सों में रहनेवाले भाइयों के विरुद्ध लड़कर ही अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। हमारी अल्पज्ञता के कारण, हमारा त्याग और बलिदान भारत के लिए हितकर न होकर हानिकर ही सिद्ध हुआ। जहाँ दो और दो मिल कर चार होने चाहिएँ थे, हम दो ने दो का विरोध करके स्वाधीनता के लिए अपनी चारों की शक्ति शून्य कर दी। अब भी हम अपना यह पुराना संस्कार सर्वथा छोड़ नहीं पाए हैं। हमारी प्रान्तीय भावना राष्ट्रीयता के लिए भयंकर अभिशाप बनी हुई है। कोई बंग माता की ही बात सोचता है, कोई हिन्दुस्तान के नाम पर केवल संयुक्तप्रान्त की ही कल्पना करता है, और कोई महाराष्ट्र को ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च बनाना चाहता है। बम्बई या कलकत्ते में रहनेवाले मारवाड़ी जब 'देश' जाने

की बात कहते हैं तो उनका मतलब राजपूताने के किसी भाग—जयपुर, बीकानेर आदि से होता है।

धर्म और जाति की संकीर्ण भावना—एक और बात, जिसने हमारी स्वाधीनता की भावना को कुंठित किया, वह थी हमारी धर्म या जाति सम्बन्धी संकीर्ण धारणा। हमने धार्मिक कही जानेवाली छोटी-छोटी बातों की ओर बहुत ध्यान दिया। यदि हमारी किसी धार्मिक रीति-रस्म में कुछ बाधा उपस्थित हुई तो हमने बड़ा असन्तोष जाहिर किया। हिन्दुओं ने पीपल के पेड़ के काटे जाने पर, और मुसलमानों ने मस्जिद के आगे बाजा बजने पर खूब मरने-मारने का जोश दिखाया। अनेक हिन्दुओं ने मुसलमानों की अधीनता में काम करना अपनी शान के खिलाफ समझा; यहाँ तक कि ऊँची जाति वालों ने जहाँ तक वश चला, नीची समझी जानेवाली जातियों के अधीन काम करने में अपनी धार्मिक मर्यादा को ठेस लगने जैसा माना, परन्तु अंगरेज़ों की नौकरी करने में कोई संकोच नहीं किया। इसी प्रकार कितने ही मुसलमान हिन्दुओं से असहयोग भाव रखते हुए अंगरेजों से सम्बन्ध जोड़ने के लिए लालायित रहे।

हिन्दू धर्माभिमानियों ने हिन्दुओं की, और इस्लाम-भक्तों ने मुसलमानों की संख्या बढ़ाने के अनेक उपाय किए। जब किसी गणना में हिन्दुओं की संख्या में अन्य जातियों की अपेक्षा वृद्धि कुछ कम हुई तो हिन्दू जाति के हितैषियों ने बड़े मार्मिक शब्दों में अपनी यह वेदना प्रकट की कि हिन्दू जाति मर रही है। उन्होंने बड़ी मेहनत से हिसाब लगा कर बताया कि अगर इस ह्रास को न रोका जायगा तो अमुक समय में भारतवर्ष से हिन्दू जाति का लोप हो जायगा। पर इन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि भारत में हिन्दुओं का एकाध करोड़ कम रहना इतना चिन्तनीय नहीं था, जितनी चिन्तनीय यह बात थी कि यहाँ इतने करोड़ हिन्दू होते हुए भी यह देश पराधीनता में फँसा हुआ है। हमारे इस जातिगत या धार्मिक (साम्प्रदायिक) विचार ने हमें बहुत

कमजोर बनाए रखा। यदि हमारी यह कमजोरी न होती तो अवश्य ही हमारे स्वधीनता-संग्राम में बहुत जल्दी सफलता मिल जाती।

हमने देशभक्ति के विरुद्ध राजभक्ति अपनाई—अपने पुराने धार्मिक संस्कारों के कारण हम पराधीन हो जाने पर भी राजा को ईश्वर का रूप मानते रहे। हमने 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' को अपना आदर्श-वाक्य बनाए रखा। हमने शासक की आज्ञा को वेद-वाक्य माना। हमें यह ज्ञान न रहा कि राजा भी गलती कर सकता है, और अन्यायी राजा को पदच्युत करना और उसे दंड देना जनता का कर्तव्य है, धर्म है। राजा के प्रति हमारी घोर अन्ध-श्रद्धा का कुछ परिचय इस बात से मिल जाता है कि हमारी फौज और पुलिस ने शासन का संकेत पाते ही निहत्थी और निर्दोष जनता पर—बाल, वृद्ध पुरुष और स्त्रियों पर—अंधाधुन्ध लाठी-वर्षा की, और गोलियाँ चलाईं। उन्होंने यही सोचा कि हमें अपने स्वामि के प्रति वफादार रहना चाहिए; हम जिसका 'नमक' खाते हैं, उसकी रक्षा करना और उसके आदेशों का पालन करना धर्म है। उन्हों ने यह विचार नहीं किया कि हमारा प्रथम और सर्वोपरि कर्तव्य तो देश के प्रति होना चाहिए, और जो 'नमक' हम खाते हैं, अर्थात् जो वेतन आदि हम पाते हैं, उसे ये शासक कहीं बाहर से लाकर नहीं देते; उसका द्रव्य तो हमारे ही देश की जनता से, करों आदि के रूप में संग्रह किया जाता है; हमारे 'नमक'-दाता या अन्नदाता वास्तव में भारतीय जनता है। इस प्रकार गम्भीर विचार न करके सरकारी कर्मचारियों ने जनता और राष्ट्र की जो उपेक्षा की और जो राजभक्ति तथा नमकहलाली दिखाई; वह स्वाधीनता आन्दोलनों में कितनी बाधक हुई, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

विद्रोह की भावना की कमी जिन साहसी और वीर पुरुषों तथा महिलाओं ने स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए समय-समय पर अपना सर्वस्व और अपने प्राण तक न्योछार किए हैं, उनको ध्यान में

रखते हुए भी हमें ऐसा लगता है कि यहाँ सर्वसाधारण में अन्याय और अत्याचार के प्रति विद्रोह करने की यथेष्ट भावना नहीं है। स्वयं कष्टों को सहने की, और दूसरों को कष्ट न देने की बात एक सीमा तक ठीक ही है, पर अनुचित और अनावश्यक कष्ट को क्यों सहा जाय ! क्या इससे कष्ट देनेवाले को प्रोत्साहन नहीं मिलता ? तो फिर कष्ट देनेवाले को शिक्षा क्यों न दी जाय ! शिक्षा किस प्रकार दी जाय—हिन्सात्मक रीति से या हृदय-परिवर्तन द्वारा अहिंसात्मक रीतिसे—यह मतभेद का प्रश्न हो सकता है; और इसमें दूसरी पद्धति का विचार तो हम थोड़े से समय से खासकर म० गाँधी की प्रेरणा से करने लगे हैं। अस्तु, यह सर्वमान्य है कि कष्ट देनेवाले को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह दुर्व्यवहार करना छोड़ दे। यदि कष्ट देने वाला स्वयं शासक ही हो तो उसे भी ठीक रास्ते पर लाना आवश्यक है। हम इस बात को प्रायः भूल से गए कि जब शासन देशहित की दृष्टि से न होता हो, तो उसे सुधारना बदलना या रद्द करके दूसरा स्थापित करना आवश्यक है। प्रायः हम लोगों को शासन सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण जब घोर कष्ट उठाना पड़ा है तो हमने उसे शासक का दोष न समझ कर ईश्वर का कोप अर्थात् अपने भाग्य का दोष समझा है। इस प्रकार हमें अत्याचारी या विदेशी शासन के प्रति विद्रोह करने में बहुत संकोच या हिचकिचाहट रही है। कई विदेशी यात्रियों ने जब हमारी निर्धनता या कंगाली का नग्न चित्र देखा तो उन्होंने आश्चर्य से कहा कि ये लोग विद्रोह क्यों नहीं कर देते !

अंगरेजी शासन और भारतवासी—अस्तु, ऐसे स्वभाव की जनता थी, भारतवर्ष में, जब अंगरेजों ने यहाँ शासन आरम्भ किया। देश की तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल से जनता बहुत परेशान थी, और उसने सोचा था कि सम्भव है, नई व्यवस्था में कुछ आराम मिले। यदि अंगरेज अपनी राज-तृष्णा या धन-तृष्णा में अति न करते तो सम्भव था कि भारतीय जल्दी ही उनके विरुद्ध न उठ खड़े होते। दोनों

का पारस्परिक सहयोग होता। भारत को अँगरेजों से भौतिक विज्ञान, राष्ट्रीयता आदि का लाभ मिलता और अँगरेज यहाँ के आध्यात्मिक ज्ञान और विश्वबन्धुत्व से कृतार्थ होते। परन्तु अँगरेजों का व्यवहार ऐसा लोभ छल-कपट और शोषण का रहा कि भारतवासियों ने उनसे प्रायः उसी समय से लड़ना आरम्भ कर दिया, जब से उनका यहाँ शासन आरम्भ हुआ।

यद्यपि सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई से अँगरेजों का यहाँ कदम जम गया था, वास्तव में सन् १८१८ से भारतवर्ष के विविध भाग अंगरेजों के अधिकार में आए। उसी समय से अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों की लड़ाई कहीं-न-कहीं चलती रही। इन लड़ाइयों में जीत कभी अंगरेजों की हुई, तो कभी हिन्दुस्तानियों की भी हुई। परन्तु अधिकांश महत्वपूर्ण अवसरों पर जीत अँगरेजों की हुई। हाँ, जैसा कि प्लासी की लड़ाई में हुआ था, अँगरेजों की जीत का श्रेय प्रायः उनके बाहुबल को न होकर उनकी कूटनीति को ही रहा। अस्तु, हमें यहाँ खास जोर इस बात पर देना है कि भारतवासी अँगरेजों के सामने आसानी से नहीं नब गए, उन्होंने अँगरेजों को सुख की नींद नहीं सोने दिया। वे स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करते रहे।

सन् १८५७ से पहले की अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों की लड़ाइयाँ स्थानीय थीं; अँगरेजों का राज्य भी उस समय देश के कुछ फुटकर भागों पर था। लार्ड डलहौजी के शासन में ऐसा मालूम पड़ा कि भारत के एक हिस्से के बाद दूसरे हिस्से को किसी-न-किसी बहाने से, तेजी से अँगरेजों की अधीनता में लाया जा रहा है, मानो सारे भारत पर अँगरेजी झंडा फहराने की तैयारी हो रही है। ऐसी दशा में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का क्षेत्र और अधिक व्यापक होना स्वाभाविक था।

आन्दोलन का उतार-चढ़ाव और विविध रूप— सन् १८५७ से आरम्भ होकर, भारतीयों का स्वाधीनता-प्राप्ति का उद्योग

२

उस समय तक चलता रहा, जब उसका उद्देश्य सफल हो गया। बीच में कभी-कभी यह मालूम हुआ कि सफलता हमारी आँखों के आगे ही नाच रही है, पर उसके कुछ समय बाद प्रतीत हुआ कि हम तो पहले से भी और पीछे हटे हुए हैं। आशा और निराशा, उतार और चढ़ाव के हमने कितने दृश्य देखे! परन्तु हर दशा में हमने अपने लक्ष्य को सामने रखा। हमारे कितने ही भाई और बहिनों ने हमसे सदा के लिए विदाई लेली, कुछ इतने थक गए कि आगे चलने के योग्य ही नहीं रहे। पर साथ ही समय-समय पर हमारी मंडली में नए सदस्यों की भर्ती होती रही, जिन्होंने दूने उत्साह से विजय-यात्रा जारी रखने का संकल्प किया।

कौन जानता था कि यह कठोर यात्रा कब जाकर पूरी होगी; भारतीय इतिहास की इस मंजिल पर पहुँच कर हमें यह कहने का अवसर मिला है कि सन् १८५७ में आरम्भ होने वाला हमारा स्वाधीनता-युद्ध नब्बे वर्ष चला। पहले से किसी को हमारी पराधीनता की अवधि का अनुमान नहीं होता था। आन्दोलन का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है; कभी-कभी एक ही समय में वह एक से अधिक प्रकार का भी हुआ है। भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है, तरह-तरह की विचार-धाराएँ और कार्यपद्धतियाँ प्रचलित हैं। इसलिए यहाँ स्वाधीनता-आन्दोलन के रूप में कभी-कभी कुछ परिवर्तन हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। अगले पृष्ठों में उन विविध आन्दोलनों का वर्णन किया जायगा, जो यहाँ से अंगरेजों की हकूमत हटाने के लिए किए गए। स्मरण रहे कि ये आन्दोलन कुछ अलग-अलग दिखाई देने पर भी एक ही जंजीर की विविध कड़ियाँ हैं।

दूसरा अध्याय

सन् १८५७ का संग्राम

क्रान्ति होती है विपदा में—
सत्य का सूर्य अस्त जब हो, धर्म की ध्वजा ध्वस्त जब हो ॥
व्यर्थ निर्दोष त्रस्त जब हो, न्याय की तुला व्यस्त जब हो ॥
रहे आनन्द न जनता में, क्रान्ति० ॥ १ ॥
दुष्ट दुर्गुण-दल उन्नत हो, स्वत्व शुभ गुण न समुन्नत हो ।
पुत्र सम प्रजा न पालित हो, विभेदक रीति प्रचालित हो ।
रहे समभाव न नृपता में, क्रान्ति० ॥ २ ॥

—ईश्वर

सन् १८५७ का संग्राम 'सिपाही-विद्रोह' नहीं—

भारत में स्वतंत्रता प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न पहली बार सन् १८५७ में हुआ। अंगरेज इतिहासकारों ने इसे 'सिपाही-विद्रोह' नाम दिया है। परन्तु उनके ही कथनानुसार 'दस दिन के भीतर ही अवध में अँगरेजी शासन एक स्वप्न की तरह छिन्न-भिन्न हो गया था' और 'अनेक स्थानों पर जहाँ विद्रोह फैल गया था, जनता भी सिपाहियों के साथ उठ खड़ी हुई थी।' वास्तव में इसमें सेना के बाहर के भी बहुत से आदमियों ने भाग लिया था। सिपाहियों को जनता की सहानुभूति और सहयोग तथा कई राजा-महाराजाओं और स्वयं सम्राट बहादुरशाह का नेतृत्व प्राप्त था। ऐसी दशा में इस घटना को 'सिपाही-विद्रोह' कहना सरासर गलत है। यह भारतीय जनता के कई प्रकार के असन्तोष का फल था, अंगरेजी शासन को यहाँ से हटाने का उद्योग था, भले ही यह यथेष्ट संगठित न रहा हो।

जनता का आर्थिक असन्तोष——कम्पनी के शासन में यहाँ जनता को तरह-तरह का घोर असन्तोष रहा। पहले आर्थिक स्थिति की बात लें। जिस नवाब सिराजुद्दौला की, अंगरेज लेखकों ने 'नर-पिशाच' कहकर बेहद निन्दा की है, उसकी ही राजधानी मुर्शिदाबाद को देख कर क्लाइव ने लिखा था—'मुर्शिदाबाद का शहर लन्दन जैसा ही आबाद और विशाल है। परन्तु लन्दन और मुर्शिदाबाद में यह अन्तर है कि लन्दन के धनवानों की अपेक्षा यहाँ बेहद धनवान सेठ अधिक दिखाई देते हैं।' कम्पनी के शासन में मुर्शिदाबाद कैसा गया गुजरा हो गया; यह सब जानते हैं। एक मुर्शिदाबाद ही क्या, कम्पनी सरकार ने न-जाने हमारे कितने शहरों और मंडियों का कारोबार चौपट करके उनकी समृद्धि नष्ट करदी। कम्पनी ने नमक आदि ज़रूरी चीजें पैदा करने का कुल अधिकार अपने ही हाथ में रखा। वह हजारों आदमियों को नाममात्र की मजदूरी देकर बेगार में पकड़ लेती थी, और खूब नफा कमाती थी। परिणाम-स्वरूप जनता बहुत कष्ट भोगती थी।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिलने के बाद कम्पनी ने इन प्रान्तों में ज़मीन की मालगुजारी बेहद बढ़ादी थी। आखिर, दूसरा कोई उपाय न रहने के कारण कम्पनी को लाचार होकर स्थायी बन्दोबस्त करना पड़ा। मालगुजारी की दर उस समय की आय के हिसाब से बहुत अधिक होने के कारण कितने ही जमींदारों को अपनी ज़मीन बेचनी तथा अन्य कष्ट उठाने पड़े। पीछे जाकर कुछ ज़मींदार मालदार हो गए तो इसका कारण कम्पनी की कृपा नहीं, वरन् यह था कि जमीन का सुधार और उन्नति होने से आय बढ़ गई। निदान, कम्पनी ने ज़मींदारों से अधिक-से-अधिक मालगुजारी और जमींदारों ने किसानों से खूब कसकर लगान लिया। इस प्रकार कम्पनी की नीति से उस समय के जमीदारों और किसानों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। यह बात बंगाल तक ही सीमित नहीं थी, जहाँ-जहाँ कम्पनी का

शासन रहा, सभी जगह जनता को आर्थिक संकट का कटु अनुभव हुआ; उसका स्वरूप भले ही कुछ जुदा-जुदा हो। मध्य श्रेणी के बहुत से आदमी इसलिए भी असन्तुष्ट थे कि अँगरेजों के शासन में उन्हें ऊंचे पद नहीं मिल रहे थे।

सामाजिक और आर्थिक असन्तोष—पुराने विचारों के बहुत से आदमियों के असंतुष्ट होने का एक कारण यह भी था कि सती-प्रथा और कन्या-वध आदि बन्द किए गए थे; विधवा-विवाह को कानून से जायज़ ठहराया गया था। वे इस तरह के कानूनों को समाज-सुधार न समझकर बिगाड़ के लक्षण मानते थे। सरकार की ओर से जो अस्पताल खोले गए या रेलें चलाई गईं, उन्हें भी ईसाई बनाने का उपाय समझा गया, क्योंकि इनमें छूतछात का विचार नहीं रखा जाता था। फिर ईसाई धर्म के प्रचार के कितने ही उपाय तो स्पष्ट रूप से काम में लाए जाते थे। मदरास सरकार तो ईसाई धर्म सम्बन्धी नोटिस तथा पुस्तिाएँ जनता के खर्च से छपा कर गाँव-गाँव में बाँटती थी। त्रावणकोर जैसी रियासत में रेजीडेन्ट आदि के दबाव से पादरियों को मकान और गिरजाघर बनाने के लिए ज़मीन मुफ्त या नाममात्र के मूल्य पर दी जाती थी। बहुत से स्कूल और कालिज पादरियों द्वारा संचालित थे, उनमें ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप में दी जाती थी। सिपाहियों के केम्प में उपदेश देने के लिए सरकार ईसाई पादरियों को भेजती थी। बंगाल की पैदल सेना के एक अंगरेज़ कमाण्डर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "मैं लगातार २८ वर्ष से हिन्दुस्तानी सिपाहियों को ईसाई बनाने की नीति पर अमल कर रहा हूँ; उनकी आत्माओं को शैतान से बचाना मेरे सैनिक कर्त्तव्य का हिस्सा रहा है।" इससे हिन्दुस्तानी सिपाहियों में असन्तोष फैलना स्वाभाविक ही था। धार्मिक भावना वालों खासकर मौलवियों और पण्डितों में अँगरेजों के प्रति घृणा बढ़ती गई।

राजनैतिक असन्तोष—प्लासी की लड़ाई (सन् १७५७) के

बाद के सौ वर्षों में कम्पनी ने कभी छल और चालाकी से, कभी भारतीय शासकों को आपस में लड़ा कर, और कभी लड़ाई लड़कर—भले-बुरे सभी उपायों से अपना राज्य बढ़ाया, और यहाँ के राजा महाराजाओं को बुरी तरह अपमानित किया।

कम्पनी के उच्च अफसर अपने आपको दिल्ली-सम्राट की प्रजा कहते हुए भी अकबरशाह (सन् १८०६-३७) से ऐसा व्यवहार करने लगे जो इस सम्राट की मान-प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। बहादुरशाह के गद्दी पर बैठने (सन् १८३७) के कुछ समय बाद उसे नज़रें पेश करना बन्द कर दिया गया। सन् १८५६ में लार्ड डलहौजी ने अवध को बिना किसी कारण कम्पनी के राज्य में मिला लिया। इसके साथ ही वहाँ के अधिकांश जमींदारों की जमीनें छीनी गईं और जप्त की गईं। इसका फल यह हुआ कि जो हिन्दुस्तानी अवध से फौज में भर्ती हुए थे, वे सब असन्तुष्ट हो गए। पेशवा बाजीराव (१७९६-१८१८) को, उसके इलाके के बदले में, कम्पनी ८ लाख रुपए सालाना देती थी, वह उनके मरते ही बन्द कर दिया गया। पेशवा के गोद लिए हुए लड़के नाना साहब ने अँगरेजों को पेन्शन की याद दिलाई तो उन्हें डाटकर कहा गया कि विठूर की जागीर जो तुम्हारे कब्जे में है, उसे भी अँगरेज जब चाहें छीन सकते हैं। इसके अलावा लार्ड डलहौजी ने एक अनीति और बर्ती। उसने यह नया सिद्धान्त चलाया कि, यदि किसी राजा के पुत्र न हो तो उसका राज्य अंगरेजी राज्य में मिला लिया जाय। अगर कोई राजा किसी बालक को गोद ले तो वह बालक गोद लिया हुआ तभी समझा जाय, जब कम्पनी उसे स्वीकार कर ले। इस अनोखे सिद्धान्त के द्वारा लार्ड डलहौजी ने सतारा, झाँसी नागपूर, कर्नाटक, तन्जौर सम्भलपुर तथा अवध के राज्यों को अंगरेजी राज्य में मिला लिया। जिन लोगों से उनके बाप दादों की जायदादें या रियासतें छीनी गईं, उनके हृदय में विद्रोह की आग धधकने लगी। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने हाथ से सत्ता छिन जाने पर क्षुब्ध थे।

सैनिकों का असन्तोष—धार्मिक कारणों से होनेवाले सैनिकों के असन्तोष का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके अलावा उनका असन्तोष बढ़ाने वाली और भी बातें थी। भत्ते के प्रश्न पर वे कई बार अपनी अप्रसन्नता प्रकट कर चुके थे, पर उसका कभी संतोष-जनक समाधान नहीं किया गया। कई युद्धों के अनुभव से उन्हें यह विश्वास हो गया था कि वे अँगरेजों से किसी प्रकार कम योग्य नहीं हैं, वरन् उनसे श्रेष्ठ हैं। ऐसी दशा में अँगरेज सैनिकों की अपेक्षा जब उनसे घटिया दर्जे का व्यवहार किया जाता था, तो उहें बहुत अखरता था।

संग्राम की भूमिका—इस प्रकार सन् १८५७ से पहले भारत में किसान और जमींदार, कारीगर तथा व्यापारी, मौलवी और पंडित, राजा और नवाब—अँगरेजी शासन से सब दुखी थे। अँगरेजों ने पुराने उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया था, आवश्यक पदार्थों का व्यापार अपने हाथ में कर रखा था, राजाओं और रईसों को उनकी रियासतों से वंचित किया था, बेगमों और रानियों तक को सम्पत्ति हड़प ली थी, लोगों में ईसाई मत का बेहद प्रचार करके उनकी धार्मिक भावनाओं पर भयंकर प्रहार किया था। इन बातों से आदमी भीतर-ही-भीतर बहुत क्षुब्ध थे। विकराल विस्फोट की भूमिका तैयार हो गई थी।

स्वाधीनता-संग्राम का मुख-पत्र—स्वाधीनता - संग्राम की अन्य बातों से पहले 'पयामे-आज़ादी' नाम के उस पत्र का कुछ परिचय दे देना आवश्यक है, जो इसका मानों मुख-पत्र था। 'विश्ववाणी' के सम्पादक श्री विश्वम्भरनाथ जी पांडे ने इस विषय में अपनी मासिक पत्रिका में विस्तार से लिखा है। उससे मालूम होता है कि फरवरी १८५७ में देहली से प्रकाशित होनेवाला यह पत्र अपने नाम को सार्थक करता हुआ वास्तव में स्वाधीनता का संदेश देता था। यह नागरी और उर्दू दोनों में, लीथो प्रेस पर छपता था। इसके प्रकाशन का कोई निश्चित क्रम न था। कभी सबेरे छपता था तो कभी शाम को, कभी रोज छपता था, तो कभी एक-एक दिन के अन्तर पर। इस पत्र के

प्रकाशन की योजना नाना साहब धुन्धु-पन्त के मंत्री और सलाहकार तथा भावी क्रान्ति के संयोजक श्री अजीमुल्ला ने बनाई थी। सितम्बर सन् १८५७ में झाँसी से 'पयामे आजादी' का एक मराठी संस्करण भी प्रकाशित होने लगा था, किन्तु उसकी केवल एक ही प्रति ब्रिटिश संग्राहालय में प्राप्त है।

सन् १८५७ में श्री अजीमुल्ला, पेशवा नानासाहब के वकील की हैसियत से, विलायत गए थे, पर उनका वास्तविक उद्देश्य योरप के जनमत को भारतीय स्वाधीनता का समर्थक बनाना था और रूस तथा इटली से विशेष रूप से क्रान्ति के निमित्त अस्त्र-शस्त्रों और सैनिकों की सहायता प्राप्त करना था। अपनी इस यात्रा में अजीमुल्ला ने योरपीय भाषाओं के कतिपय पत्रों द्वारा भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न को योरपीय जनता के सामने रखा था। सम्भवतः इसी यात्रा में उन्होंने 'पयामे आज़ादी' के लिए प्रेस आदि का प्रबन्ध भी किया था। आजकल की भाषा में इस पत्र के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक श्री० मिरज़ा बेदारबख्त (सम्भवतः सम्राट् बहादुरशाह के पौत्र) थे।

लोक-भावना—श्री जे० बी० मालेशन ने अपनी पुस्तक 'दि रेड पेम्फलेट' में 'पयामे आजादी' की एक सम्पादकीय टिप्पणी उद्धृत की है। उसमें लिखा है :—

"हिन्द के बाशिन्दों! अरसे से जिसका इंतज़ार था, आज़ादी की वह पाक घड़ी आन पहुँची है। हिन्दुस्तान के बाशिन्दे अब तक धोखे में आते रहे और अपनी ही तलवार से अपने गले काटते रहे।

"अब हमें मुल्क-फ़रोशी के गुनाह का कुफ्फारा (प्रायश्चित) करना चाहिए। अंगरेज अब भी अपनी पुरानी दगाबाज़ी से काम लेंगे। वे हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ़, और मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ भड़काने की कोशिश करेंगे। लेकिन, भाइयो! उनके जाल और फन्दे में न फँसना। हिन्दू और मुसलमान भाइयो! अपने छोटे-

छोटे तफ़कों (भेद-भावों) को भूल जाओ और मैदाने-जंग में एक झण्डे के नीचे खड़े हो जाओं। जो भी इस कौमी जंग की मुखालफ़त करेगा, वह खुद अपने सर पर कुल्हाड़ी मारेगा और खुदकशी का गुनाह करेगा।"

इस टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि विचारशील सज्जनों को उस समय भी यह चिन्ता थी कि अँगरेज हमारे साम्प्रदायिक मतभेद से अनुचित लाभ उठा सकते है, हमें इससे बचना चाहिए।

युद्ध की योजना--नाना साहब ने अपनी पेन्शन के बारे में बातचीत करने के लिए अपने वकील अजीमुल्ला खाँ को लन्दन भेजा था। उन्हीं दिनों सतारा के पदच्युत राजा की ओर से न्याय की याचना करने के लिए रंगोबापू जी इंगलैंड गए हुए थे। इन दोनों सज्जनों को अपने-अपने कार्य में असफलता मिली। इन्होंने मिलकर स्वाधीनता के भावी संग्राम की योजना बनाई। इसके बाद रंगोबापू जी दक्षिण के राजाओं को इस योजना के पक्ष में करने के लिए सतारा वापस आगए और अजीमुल्ला खाँ योरप-एशिया के विविध देशों में घूमते हुए यहाँ लौटे। उस समय यहाँ आदमी अँगरेजी राज्य के काफ़ी विरुद्ध हो गए थे। ये दोनों सज्जन तथा नाना साहब भावी संग्राम की योजना को पूरा करने में लग गए। नाना साहब के खास दूत देश भर के विविध राजाओं से मिले और उनके गुप्त प्रचारकों ने जनता को अपनी तरफ मिलाने के लिए दौरा किया। हर जगह उन्हें यथेष्ट सहानुभूति और आश्वासन मिला।

संगठन के चिह्न--युद्ध के समय नेताओं ने संगठन के दो खास चिह्न तय:कर रखे थे—कमल का फूल और चपाती (रोटी)। श्री० अज़ीज़ ने लिखा है* कि कमल का फूल उन सब पलटनों में, जो इस संगठन में शामिल थीं, घुमाया जाता था। इसका मतलब यह लिया जाता था कि पलटन के सब सिपाही मौका पड़ने पर जंग में

* 'भारत', २६ जनवरी १९४६

हिस्सा लेने के लिए तैयार हैं। चपाती आम जनता के लिए थी। एक गाँव का चौकीदार दूसरे गाँव के चौकीदार के पास चपाती ले जाता था। उस चौकीदार का फर्ज होता था कि उस चपाती में से थोड़ी सी खुद खाकर बाकी गाँव के दूसरे लोगों को खिलादे, और फिर गेहूँ या दूसरे आटे की उसी तरह चपातियाँ बनवाकर अपने पास के गांवों तक पहुँचादे। इसी तरह ये चपातियाँ हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लाखों गाँवों में घूम गईं।

संग्राम आरम्भ करने की तिथि--युद्ध के खास केन्द्र दिल्ली, बिहार, कलकत्ता, लखनऊ और सतारा थे। ३१ मई १८५७ का दिन, सारे भारत में एक-साथ युद्ध शुरू करने के लिए, तय किया गया था, और इसकी सूचना हर केन्द्र के खास-खास नेताओं को और हर पलटन के तीन-तीन अफसरों को देदी गई थी। परन्तु यह तिथि निभ नहीं सकी। बात यह हुई कि फरवरी में बैरकपुर की १९ वीं पलटन को नए कारतूस काम में लाने के वास्ते दिए गए, जिनमें गाय और सुअर की चर्बी लगी होने की बात सिपाहियों में फैली हुई थी; और जिन्हें काम में लाने से पहले दांत से काटना पड़ता था। सिपाही इस पर बिगड़ बैठे। मंगल पांडे ने २९ मार्च को ही दूसरे सिपाहियों से धर्म के नाम पर अँगरेजों के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने का अनुरोध कर दिया। उसे ८ अप्रेल को फांसी दी गई; इसकी खबर तेजी से देश भर में फैल गई और हर जगह हलचल मच गई। क्रान्ति का भाव पहले बंगाल के सिपाहियों में जाग्रत हुआ; फिर क्रमशः फैलता गया। १० मई को मेरठ में विप्लवी सैनिकों ने जेल पर धावा कर दिया। उन्होंने कैदियों को जेल से बाहर निकाल लिया। यही नहीं, उन्होंने अफ़सरों पर गोली चलाई। छावनी में आग लगा दी गई। जो अँगरेज़ सामने पड़े, उन्हें तुरन्त मार डाला गया।

दिल्ली में--क्रान्तिकारी लोग उत्साहित होकर दिल्ली की ओर चल पड़े। अधिकारियों को रोक-टोक करने का साहस नहीं हुआ।

दिल्ली पहुँचकर उन्होंने सम्राट् बहादुरशाह से आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने की प्रार्थना की। बहादुरशाह इस समय कम्पनी के धूर्त और चालाक अधिकारियों की अधीनता में जीवन बिता रहा था, और उनकी ज्यादतियों और अत्याचारों का कुछ प्रभावपूर्ण विरोध नहीं कर पा रहा था! उसे अब अच्छा अवसर मिला। उसने क्रान्ति का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। अब हिन्दू मुसलमान सब अपने देश को अँगरेजों की अधीनता से मुक्त करने के प्रयत्न में लग गए। १६ मई को भारतवर्ष की चिरकाल की राजधानी दिल्ली कम्पनी की अधीनता से मुक्त हो गई और बहादुरशाह का हरा झंडा हिन्दुस्तान भर के क्रान्तिकारी सिपाहियों का झंडा हो गया। दिल्ली के आजाद हो जाने का देश के विविध भागों के क्रान्तिकारियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

बहादुरशाह की घोषणा—इस अवसर पर सम्राट् बहादुरशाह ने जो महत्वपूर्ण घोषणा की, वह 'पयामे-आजादी' में प्रकाशित हुई थी। वह इस प्रकार थी —

"हिन्दुस्तान के हिन्दुओ और मुसलमानो उठो! भाइयो उठो!! खुदा ने इन्सान को जितनी बरकतें अदा की हैं, उनमें सबसे कीमती बरकत आजादी की है। वह जालिम नाकस जिसने धोखा दे देकर हमसे यह बरकत छीन ली है, क्या हमेशा के लिए हमें इससे महरूमकर सकेगा? क्या खुदा की मरजी के खिलाफ इस तरह का काम हमेशा जारी रह सकता है? नहीं, कभी नहीं। फिरंगियों ने इतने जुल्म किए हैं कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज हो चुका है। खुदा नहीं चाहता कि तुम अब खामोश रहो, क्योंकि उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों में अँगरेजों को अपने मुल्क से निकालने की ख्वाहिश पैदा कर दी है और खुदा के फज्ल और तुम लोगों की बहादुरी से अँगरेजों को जल्द ही इतनी कामिल शिकस्त मिलेगी कि हमारे इस मुल्क हिन्दुस्तान में उनका जरा भी निशान न रह जायगा। हमारी इस फौज में छोटे-बड़े की कोई तमोज न होगी। सबके साथ बराबरी का बर्ताव

किया जायगा।

"इस पाक जंग में शरीक होनेवाले सब आपस में भाई भाई हैं। उनमें छोटे-बड़े का कोई फर्क नहीं। मैं अपने तमाम हिन्दी भाइयों से दरख्वास्त करता हुँ कि खुदा के बताए हुए इस पाक फर्ज को पूरा करने के लिए मैदाने जंग में कूद पड़ें।"

अधिकार राजाओं को सौंपने की इच्छा—इस क्रान्ति में हाथ बटाने के लिए भारत के तत्कालीन राजाओं को निमन्त्रण देते हुए जो गस्ती पत्र भेजा गया था, उसमें सम्राट् बहादुरशाह ने लिखा था कि—

"मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि जिस जरिए से भी और जिस कीमत पर भी हो सके, फिरंगियों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया जाय। मेरी यह जबर्दस्त ख्वाहिश है कि तमाम हिन्दुस्तान को फिरंगियों से आजाद किया जाय। लेकिन, इस मकसद को पूरा करने के लिए जो इनकलाबी जंग शुरू कर दिया है, वह उस समय तक फतहयाब नहीं हो सकता, जिस समय तक कि कोई ऐसा शक्स, जो इस तमाम तहरीक के भार को अपने ऊपर उठा सके, जो कौम की मुख्तलिफ ताकतों को संगठित करके एक ओर लगा सके और जो अपने तईं तमाम कौम का नुमाइन्दा कह सके, मैदान में आकर इस अजीमुश्शान कोशिश की बागडोर अपने हाथ में न ले ले। अँगरेजों के निकाल दिए जाने के बाद मुगल खानदान के ज़ाती फायदे के लिए हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने की मुझ में जरा भी ख्वाहिश नहीं है। अगर आप मेरे सब सरदार दुश्मन को निकालने की गरज़ से अपनी तलवार खींचने के लिए तैयार हों, तो *मैं इस बात के लिए राजी हूँ कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने के अपने खानदान के तमाम शाही अख्त्यार और पुश्तैनी हकूक आप नरेशों के किसी ऐसे गिरोह के हाथों में सौंप दूँ, जिसे इस काम के लिए चुन लिया जाय। मैंने बीस बरस तक हिन्दुस्तान की शहनशाहियत की है, और अब कोई ज़ाती ख्वाहिश मेरे दिल में बाकी*

नहीं है।"

यह स्पष्ट है कि सन् १८५७ के संग्राम का प्रधान उद्देश्य अँगरेजों की शासन-सत्ता हटा देना था। अँगरेजों के चले जाने के बाद भारत के शासन का अधिकार मुगल सम्राट् को न होकर राजाओं के ऐसे समूह को होना था, जिसे सब राजा लोग मिल कर चुनते। अस्तु, यह भावना उस समय उदय या विकसित नहीं हुई थी कि जनता का शासन, जनता के लाभ के लिए, जनता के प्रतिनिधियों द्वारा हो। लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना की कल्पना उसके बहुत पीछे होने लगी है। उस समय तो लक्ष्य यही था कि विदेशियों का शासन न हो, और इसी के प्राप्ति के लिए यह संग्राम लड़ा जा रहा था।

रूहेलखंड की पलटनों से अपील—सन् १८५८ में लन्दन में छपी हुई 'दि नैरेटिव आफ दि इंडियन रिवोल्ट' नामक पुस्तक में 'पयामे आजादी' का एक उद्धरण दिया हुआ है, जिसमें रूहेलखण्ड की पलटनों से आजादी के जंग में शामिल होने की अपील की गई थी। उससे युद्ध की प्रारम्भिक प्रगति का परिचय मिलने के साथ यह भी मालूम होता है कि युद्ध के प्रचार में, दूसरों का सहयोग प्राप्त करने के लिए कैसी भाव-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया था। अपील में लिखा था—

"भाइयो! दिल्ली में फिरंगियों के साथ आजादी की जंग हो रही है। अल्लाह की दुआ से हमने उन्हें जो पहली शिकास्त दी है, उसमें वे इतना घबरा गए हैं, जितना किसी दूसरे वक्त वह दस शिकस्तों से भी न घबराते। बेशुमार हिन्दुस्तानी बहादुर दिल्ली में आन-आन कर जमा हो रहे हैं। ऐसे मौके पर अगर आप वहाँ खाना खा रहे हैं, तो हाथ यहाँ आकर धोइए।... हमारे कान इस तरह आपकी ओर लगे हुए हैं, जिस तरह रोजेदारों के कान मुअज्जिन की आवाज की तरफ लगे रहते हैं। हम आपकी तोपों की आवाज सुनने के लिए बेचैन हैं। हमारी आँखें आपके दीदार की प्यासी सड़क पर लगी हुई हैं। आपका फर्ज

है कि फौरन आइए। हमारा घर आपका घर है।"

क्रान्ति का विस्तार—अँगरेजों को मार भगाने और देश को स्वाधीन बनाने के लिए इस प्रकार जो क्रान्ति उत्पन्न हुई, उसका विस्तार शीघ्र ही दूर-दूर तक हो गया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में विद्रोह की अग्नि जोरों से प्रज्ज्वलित हो उठी। चारों ओर मारकाट आरम्भ हो गई। ५ जून को कानपुर में भारतीय सैनिक, क्रान्तिकारियों के साथ आ मिले। उन लोगों ने नाना साहब को अपना नेता बनाया। उन्होंने पेशवा की उपाधि धारण की। जनरल ह्वीलर सात सौ अँगरेजों सहित बैरकों में सुरक्षित रूप से बन्द हो गया और वहीं क्रान्तिकारियों से अपनी रक्षा करने लगा। लगभग तीन सप्ताह तक वह अपने साथी अँगरेजों की रक्षा किसी तरह करता रहा, किन्तु बाद को उसके पास खाने-पीने का कोई सामान नहीं रह गया। निदान, उसने आत्म-समर्पण करदिया और नाना साहब पर विश्वास करके, सब अँगरेजों सहित नावों पर बैठकर इलाहाबाद के लिए रवाना हो गया। लेकिन क्रान्तिकारियों ने उन सब अँगरेजों की हत्याकर डाली, केवल दो चार अँगरेज जीते बचे। उन्होंने नदी में तैरकर अपने प्राणों की रक्षा की।

लखनऊ में भी यही हाल हुआ। अवध की सेना ने जून के प्रारम्भ में विद्रोह किया। वहाँ एक बार फिर नवाबी का दौर आरम्भ हुआ। सर हेनरी लारेन्स ने नगर के सब अँगरेजों को अपने साथ लेकर रेज़ीडेन्सी में आश्रय ग्रहण किया। क्रान्तिकारियों ने जाकर रेज़ीडेन्सी को घेर लिया। सर हेनरी लारेन्स ने अपनी शक्तिभर रक्षा का प्रयत्न किया, किन्तु ४ जुलाई को वह मारा गया। उसके बाद रेजीडेन्सी की सेना आक्रमणकारियों का सामना करती रही।

बंगाल और बिहार में जगदीशपुर के राजा कुंवरसिंह ने खूब वीरता और आत्मत्याग का परिचय दिया। आपके नेतृत्व में हिन्दुस्तानी पल्टनों ने मार्के का काम किया।

क्रान्तिकारियों की बल-वृद्धि—झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

ने भी देश की स्वाधीनता के लिए अँगरेजों से लड़ने की तैयारी कर दी। वे बड़े साहस और पराक्रम के साथ लड़ीं, उनका नेतृत्व पाकर क्रान्तिकारियों का उत्साह और बढ़ गया। उन्होंने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। होल्कर तथा सिंधिया की पलटनें भी क्रान्तिकारियों के साथ जा मिलीं। दिल्ली क्रान्तिकारियों का केन्द्र-स्थल बना हुआ था। जो पलटनें विद्रोह करतीं थीं, वे सीधे दिल्ली पहुँचती थीं।

गवर्नर-जनरल लार्ड केनिंग ने क्रान्ति आरम्भ होते ही बम्बई, मदरास आदि स्थानों को सैनिक सहायता भेजने के लिए तार दे दिया था। ८ जून को तीन हजार अँगरेजों की सेना दिल्ली आ गई और उसने अपना मोर्चा क़ायम किया। किन्तु क्रान्तिकारियों की फौज ने अँगरेजी पलटन को ही घेर लिया, और उसे हरा दिया।

सफलता का आभास—दिल्ली से चुन-चुनकर अँगरेजों को भगा दिया गया या मार दिया गया। बहादुरशाह फिर से वास्तविक सम्राट हो गया। यातायात आदि की सुविधाएँ न होते हुए भी शहर पर शहर स्वाधीन होते जा रहे थे। बहादुरशाह की हकूमत फिर जमती हुई मालूम होने लगी। पर यह विजय स्थायी नहीं हुई। दिल्ली १३४ दिन तो स्वाधीन रही। फिर पाँसा पलटने लगा। इस प्रसंग में हमें भारतीय क्रान्ति की कमजोरिवों का विचार कर लेना चाहिए।

क्रांति की कमजोरियाँ; सिक्खों और गोरखों का दोष—इस क्रान्ति में सिक्खों और गोरखों ने देश का साथ न देकर अँगरेजों की मदद की। सम्राट् बहादुरशाह ने सिक्खों को अपनी तरफ वफादार रहने का फरमान देकर ताजुद्दीन को भेजा था। ताजुद्दीन ने उनसे बातें करके बहादुरशाह को लिखा कि "पंजाब के सिक्ख राजा सुस्त और बुजदिल हैं। वे फिरंगियो के हाथ के खिलौने बने हुए हैं। मैंने उनसे बातें कीं। उनके सामने अपना कलेजा पानी कर दिया। मैंने उनसे कहा कि आप झूठे और ग़द्दार फिरंगियों का साथ क्यों देते हैं। आप

मुल्क की आजादी के साथ क्यों दगा करते हैं ? आपको कम-से-कम अपने फायदे के लिए ही अपने सम्राट् का साथ देना चाहिए। इस पर उन्होंने जवाब दिया—'देखिए, हम सब मौके की इन्तजार में हैं, ज्यों ही हमें अपने सम्राट् का हुक्म मिलेगा, हम इन फिरंगियों को मार भगाएँगे।' कहने में तो ये राजा ऐसा कहते हैं, मगर मेरा ख्याल है कि हम इन पर बिल्कुल एतबार नहीं कर सकते।" ताजुद्दीन का खयाल सही निकला। सिक्खों ने स्वाधीनता-संग्राम में शत्रु का साथ दिया। श्री छगनलाल जोशी के शब्दों में बात यह थी कि अँगरेजों ने सिक्खों से ६ फी सदी सूद पर जबरदस्ती कर्ज लिया था। अँगरेजों का राज्य जाता तो सिक्खों का रुपया मारा जाता। इसलिए सिक्ख अँगरेजों की ओर से लड़े। फिर, सिक्खों को अपने गुरुओं का खून करनेवाले मुगल राज्य से बैर चुकाना था।

गोरखों को अवध से अपना बैर चुकाना था, क्योंकि नेपाल-युद्ध के समय अवध के पूर्वियों ने अँगरेजों की फौज में शामिल होकर नेपाल पर चढ़ाई की थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिक्खों और गोरखों ने जो अँगरेजों का साथ दिया इसका कारण यह नहीं था कि ये अँगरेजों के राज्य में बहुत खुश थे। अस्तु, यह निर्विवाद है कि सिक्ख और गोरखों ने इस स्वाधीनता-संग्राम का यथेष्ट महत्व नहीं समझा और अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के वश होकर क्रान्तिकारी शक्तियों को कमजोर करने में भाग लिया।

उद्देश्य की समानता और सुयोग्य नेतृत्व का अभाव—अब दूसरी बात लें। भारतवर्ष के कितने ही राजा और सरदारों आदि के लिए इस युद्ध में विजय प्राप्त करना मुख्य बात न थी। वे तो यह सोचते थे कि किस तरह उनका स्वार्थ अधिक सिद्ध होगा। इस प्रकार कितने ही होशियार और चालाक आदमियों ने देशद्रोह करके अपनी रियासतें और जागीर आदि सुरक्षित रखने, तथा नई प्राप्त करने की व्यवस्था की। क्रान्तिकारियों का साथ देनेवाले राजा भी, जैसा

चाहिए था, जी खोलकर नहीं लड़े। वे अपनी सम्मिलित शक्ति का पूरा उपयोग करने का निश्चय अन्त तक भी न कर सके। दिल्ली के घेरे के दिनों में क्रान्ति के नेताओं में आपस में प्रबल मतभेद हो गए थे। इसका संकेत 'प्यामे आज़ादी' में प्रकाशित, सम्राट् बहादुरशाह 'जफ़र' की कविता के इस शेर से मिलता है :—

कफ़स में है क्या फ़ायदा शोरो-गुल से।
असीरो करो कुछ रिहाई की बातें ॥

अस्तु, यह स्पष्ट है कि नेताओं के सामने उद्देश्य की समानता, और अपने अलग-अलग निजी विचारों को छोड़कर समान उद्देश्य के लिए मर मिटने की भावना थी। फिर, क्रान्तिकारियों में कोई ऐसा प्रभावशाली नेता न था, जो जुदा-जुदा जगहों से आई हुई सेनाओं का नियंत्रण कर सके, और फौजों के नायक विविध राजा और नवाब आदि को अनुशासन में रख सके। जनता और सिपाहियों को राजकुल या शाही खानदान के आदमियों के अधीन रहने का अभ्यास था, वे किसी साधारण वंश के आदमी के नेतृत्व में काम करना नहीं सीखे थे।

क्रान्तिकारियों की पूर्वोक्त कमजोरियों के कारण २५ अगस्त को जब उनका सिपहसालार बख्तखां कम्पनी की सेना को हटाने का प्रबल आयोजन कर रहा था, वह अपनी फौज में अनुशासन न रख सका। दिल्ली की फौज की इस समय की छोटी सी हार ने बतला दिया कि हवा का रुख बदल रहा है। १४ सितम्बर को कम्पनी की सेना ने घमासान लड़ाई करके एक ओर से शहर में दखल कर लिया; धीरे-धीरे तीन-चौथाई शहर उसके हाथ में चला गया।

विश्वासघात, और बहादुरशाह की गिरफ्तारी—

इस नाजुक मौके पर भारतीय क्रान्ति की एक और कमजोरी सामने आई। यह कमजोरी ऐसी थी, जो किसी भी राष्ट्र के लिए बहुत घातक होती है, और भारतवर्ष को इस का कटु अनुभव अपने इतिहास में अनेक बार होता रहा है—सन् १८५७ से पहले भी और उसके बाद भी।

हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों से है, जो अपने नीच स्वार्थ के लिए जाति और देश को रसातल भेजने के लिए तैयार रहते हैं। अस्तु, दिल्ली दरबार में इस समय ऐसे अधम पुरुषों का अभाव न था, और कम्पनी अपनी कूटनीति और विविध षड़यन्त्रों द्वारा उन्हें अपनी ओर मिलाने और यहाँ के गुप्त रहस्यों को मालूम करने से कब चूकने वाली थी !

सिपहसालार बख्तखाँ की सलाह थी कि बहादुरशाह दिल्ली से निकल चले और किसी दूसरी जगह से कम्पनी के विरुद्ध लड़ाई ज़ारी रखी जाय। पर विश्वासघाती मिर्ज़ा इलाहीबख्श सम्राट् के पास आया और उसने उनका शुभचिन्तक बनकर कहा कि आप यहाँ से व्यर्थ जा रहे हैं, मैं अँगरेजों से मिलकर आपके और आपके परिवार के लिए समझौता करा दूँगा। बादशाह धोके में आगया और उसने दिल्ली ही में रहने का फ़ैसला किया। दूसरी ओर इलाहीबख्श ने अँगरेजों को खबर दी कि वे बहादुरशाह को गिरफ़्तार करलें। इस प्रकार मौका पाकर कप्तान हडसन ने बहादुरशाह और उसकी बेगम जीनतमहल को गिरफ़्तार करके लाल किले में कैद कर दिया। दिल्ली पर फिर अँगरेजों का कब्जा हो गया।

बहादुरशाह की गिरफ़्तारी के बाद, इलाहीबख्श की ही मदद से कप्तान हडसन ने उसके दो बेटों और एक पोते को गोली से मार डाला। उसने तीनों शाहजादों के सिर काट कर सम्राट् के सामने रखते हुए क्रूरता-पूर्वक कहा—'यह कम्पनी की ओर से आपका नज़राना है, जो बरसों से बन्द था।'

बहादुरशाह के विरुद्ध अभियोग—निदान, भारत का यह संग्राम असफल रहा; और, संसार में असफलता महापाप मानी जाती है। विजेताओं ने पराजितों को बागी ठहराया। स्वयं सम्राट् बहादुरशाह पर देहली के लाल किले में एक फौजी अदालत के सामने मुकदमा चलाया गया। मुकदमा चलाने वाले थे वे विदेशी, जिन्हें हकूमत करने

का कोई कानूनी अधिकार न था, जिन्होंने सन् १८५७ तक अपने आपको सम्राट् के 'फिदविए खास' (विशेष सेवक) कहा था, और अनेक सनदों और कानूनो कागज़ों में लिखा था, और जिन्होंने अपनी सत्ता के बल पर हजारों नाजायज़ और दंडनीय हरकतें की थीं।

सम्राट् बहादुरशाह के विरुद्ध इस प्रकार के अभियोग लगाए गए :—

(१) ब्रिटिश सरकार से पेंशन पाते रहने के बावजूद भी तोपखाने के सूबेदार बख्तसिंह तथा अन्य भारतीय अफसरों को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने, अँग्रेजों की हत्या करने तथा हत्या कराने में सहयोग देने की कार्रवाई करना।

(२) अपने पुत्र मिरज़ा मुगल तथा दिल्ली और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के अनेक अज्ञात निवासियों को बगावत के लिए उभारना।

(३) ब्रिटिश सरकार की प्रजा होते हुए भी ११ मई १८५७ और उसके पश्चात् सरकार के प्रति ली हुई शपथ की उपेक्षा करके विद्रोह करना तथा वैधानिक ढंग से ब्रिटिश सरकार की प्रजा होते हुए भी अपने को सम्राट् घोषित करना। अपने पुत्र मुगल मिरजा तथा सूबेदार बख्तसिंह एवं अन्य विद्रोहियों की सहायता से दिल्ली तथा अन्य स्थानों में राज्य के विरुद्ध बगावत करना।

(४) १६ मई १८५७ के आसपास दिल्ली में अपने महल के निकट ४६ योरपीय स्त्रियों और बच्चों की हत्या करना अथवा हत्या में सहायता देना। इसके अतिरिक्त सन् १८५७ के १० मई से १ अक्तूबर तक योरपीय अफसरों तथा अन्य बहुत से अँग्रेजों की हत्या में मदद पहुँचाना।

सम्राट् बहादुरशाह ने अपने ऊपर चलाए जाने वाले मुकदमे में कोई भाग नहीं लिया। फौजी अदालत ने उन्हें अपराधी ठहराया, और आजन्म कैद करके दिल्ली से बहुत दूर एकान्त स्थान रंगून भेज दिया, जिससे उन्हें इधर की हवा भी न मिल सके।

असफलता का दंड—वास्तव में बहादुरशाह को जो दंड दिया गया, यह उसके अपराध का नहीं, वरन् उसको असफलता का दंड था। बहादुरशाह ने अपने देश को स्वतन्त्रता के लिए संग्राम छेड़ा था; यह कार्य किसी सभ्य देश की दृष्टि में अपराध नहीं माना जाता, नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु बहादुरशाह अपने प्रयत्न में असफल रहा था, इसलिए विजयी पक्ष ने अपने आपको इस बात का अधिकारी मान लिया कि सम्राट् पर मुकदमा चलाने का ढोंग रच कर उसे मनमानी सजा दे। जरा सोचिए, यदि भाग्य ने बहादुरशाह का साथ दिया होता और अँगरेज हार गए होते तो अभियुक्त कौन बनते, और उन पर अभियोग क्या-क्या लगाए जाते!

महारानी लक्ष्मीबाई तो युद्ध करते-करते ही वीर-गति को प्राप्त होगई थी, उसे अँगरेजों के हाथों असफलता का दण्ड भोगना नहीं पड़ा। तांत्याटोपी कहीं भाग गया था; दो वर्ष बाद, जब वह अपने एक मित्र के विश्वासघात के कारण गिरफ़्तार किया गया तो अँगरेज़ों से उसे फांसी के सिवाय और क्या मिलना था। नाना साहब लापता हो गए, और अँगरेजों की पकड़ में नहीं आए।

जहाँ तक अँगरेजों का वश चला, उन्होंने इस स्वाधीनता-संग्राम से सहानुभूति रखनेवालों को ढूँढ़-ढूँढ़कर अपनी सैनिक शक्ति और कठोर दमन का शिकार बनाया। यही नहीं, अनेक बच्चों और स्त्रियों से भी, जिनका संग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं था, क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया गया। सर जान लिखते हैं कि 'मई और जून में मार्शल ला जारी होने के बाद सोल्जर और सिविलियन गाँव-गाँव में अदालत लगाते और निर्दोष स्त्री-पुरुषों को फाँसी पर लटकाने का हुक्म दे देते, और अन्त में तो बुढ़िया, बालक और पुरुष फाँसी पर नहीं लटकाए जाते थे, बल्कि गाँव में जाते ही जला दिए जाते या गोलियों से ढेर कर दिए जाते। ऐसे निर्दोष कोमल बालकों और वृद्धाओं को गोली से मारने में सोल्जर बिलकुल ही निशाना न चूकते थे. और अपने पराक्रम की बड़ाई करते

में सोल्जर शर्माते और हिचकिचाते न थे।'

अँगरेजों के हृदय में इस समय कितना क्षोभ, विजयोन्माद और बदले की भावना थी, यह इस एक ही बात से स्पष्ट हो जायगा कि दिल्ली पर उनका कब्जा हो जाने के बाद '*पयामे-आजादी*' के सम्पादक *मिरजा बेदारबख्त के बदन पर सुअर की चर्बी मल कर फांसी दी गई; यही नहीं, वे सब लोग भी फांसी पर लटकाए गए, जिनके घरों में इस पत्र का कोई अंक मिला।* यह दंड था, जो क्रान्ति के असफल होने पर भारत को मिला।

देश-द्रोहियों को पुरस्कार—इसके विपरीत, खूब पुरस्कार मिला उन लोगों को, जिन्होंने अपने देश और अपनी जातिवालों से विश्वासघात किया था। देश-द्रोही राजाओं, नवाबों और सरदारों को हमेशा के लिए खरीदने के वास्ते रियासतों, जागीरों और उपाधियों की जी खोलकर वर्षा की गई। अब से भारतीय नरेशों के अधिकार सुरक्षित हो गए और उन्हें गोद लेने का अधिकार मिल गया। महारानी विक्टोरिया की घोषणा (नवम्बर १८५८) में पुरानी संधियों को पालन करने का आश्वासन देते हुए कहा गया कि 'हम अपने वर्तमान (भारतीय) राज्य का और अधिक विस्तार नहीं चाहते। जबकि हम अपने राज्य या अधिकारों पर किसी को आक्रमण न करने देंगे, *हम राजाओं के राज्य या अधिकारों पर भी कोई आघात न होने देंगे। हम देशी राजाओं के अधिकारों तथा मान-प्रतिष्ठा का अपने अधिकारों तथा मान-प्रतिष्ठा की तरह सम्मान करेंगे।*'

राजाओं के प्रति बर्ती जानेवाली नीति—देशी राजाओं के प्रति अँगरेजों की इस नीति के अवलम्बन का रहस्य समझने के लिए याद रखना चाहिए कि यद्यपि सन् १८५७ में कुछ राजाओं का व्यवहार उन्हें चौंकानेवाला था, वे अधिकतर राजाओं की 'वफादारी' से प्रभावित हुए बिना न रहे। लार्ड केनिंग ने जिसे सन् १८५७ की घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव था, कहा था कि 'यदि गदर

के तुफान में देशी राज्यों ने बांध का काम न दिया होता तो वह तुफान हमारी सत्ता को बहा ले गया होता।' निदान, १८५७ के बाद देशी राज्यों को ब्रिटिश भारत में मिलाना बन्द कर दिया गया; यही नहीं, सरकार ने कितने ही नए राज्य भी बनाए। इसमें मुख्य हेतु यह थे—राजा अपनी प्रजा के प्रति उत्तरदायी न हों, वे अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश सरकार पर निर्भर रहें और भारतवर्ष में एकसूत्रता और संगठन न होकर यह देश राजनैतिक दृष्टि से दो प्रकार के अनेक टुकड़ों में विभक्त रहे। इतिहास-पाठक जानते हैं, अँगरेज कूटनीतिज्ञों के इस निश्चय में कितनी दूरदर्शिता थी।

जनता के प्रति सरकारी नीति की घोषणा—महारानी विक्टोरिया की घोषणा के राजाओं सम्बन्धी अंश का विचार ऊपर किया गया है। उसी में भारतीय जनता को धार्मिक भावना की रक्षा, उनके साथ समानता का व्यवहार करने और उन्हें योग्यतानुसार सरकारी पद देने का आश्वासन दिया गया। घोषणा का महत्व उसके नीचे लिखे वाक्यों से स्पष्ट हो जायगा :—

'हम अपने को भारतीय प्रजा के प्रति कर्तव्य के उन्हीं बंधनों से बंधा हुआ मानते हैं, जो कि हमारी अन्य प्रजा के प्रति हैं। सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा से हम इन कर्तव्यों का सचाई के साथ हृदय से पालन करेंगे।'

'हमारी यह भी इच्छा है कि जहाँ तक सम्भव हो, हमारे प्रजा जनों को उनकी योग्यता, शिक्षा तथा ईमानदारी के अनुसार पक्षपात रहित होकर सरकारी नौकरियों में स्थान दिया जाय, और उनकी जाति या उनके धर्म का विचार न किया जाय।'

'हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारत में शान्तिपूर्ण वातावरण में उद्योग धधों की उन्नति की जाय, सर्वसाधारण के लाभ और सुधार के कार्य किए जायँ, और शासन-कार्य का इस प्रकार संचालन किया जाय कि हमारी समस्त प्रजा का कल्याण हो। प्रजा की

समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उसका संतोष ही हमारा सबसे बड़ा पारितोषिक होगा। हमारी परमपिता से प्रार्थना है कि वह हमें और हमारे अधिकारियों को हमारी इन इच्छाओं का जनता की भलाई लए पालन करने की शक्ति प्रदान करे।'

विशेष वक्तव्य—इस घोषणा को भारतवासियों ने अपना अधिकार-पत्र माना। इस पर अविश्वास करने का कोई कारण भी न था, खासकर जब कि, 'ईश्वर की कृपा' और 'सचाई के साथ हृदय से' इसे पालन करने की प्रतिज्ञा की गई थी, और इसकी पूर्ति के लिए 'परमपिता परमात्मा से शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना' की गई थी। इस घोषणा ने भारतवासियों के हृदय में धधकती हुई विद्रोहाग्नि पर ठंडे पाने का सा काम किया। खासकर धार्मिक स्वाधीनता की बात से उन्होंने बड़े संतोष का अनुभव किया। उन्होंने अँगरेजी राज को एक ईश्वरीय देन समझा और वे एक नए युग के आगमन की आशा करने लगे।

तीसरा अध्याय

सार्वजनिक भावना का उदय

हमारा आज का राजनैतिक जीवन समाज-सुधार के रास्ते आनेवाले धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही विकसित रूप है।

—शान्तिप्रसाद वर्मा

घोर दमन—सन् १८५८ से भारत का शासन ईस्ट इंडया कंपनी के हाथ से लिया जाकर ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा होने लगा। अँगरेजों ने इस समय भारतीय स्वावतंत्र्य-भावना को कैसी क्रूरता से कुचल डालने का प्रयत्न किया, इसका कुछ आभास पाठकों को मिल चुका है। जिन लोगों ने अँगरेज सरकार के हाथों विविध यातनाएँ भोगीं, वे आज अपनी कष्ट-कथा कहने को मौजूद नहीं है, फिर जो मौत के घाट उतार

दिए गए, उनकी तो बात ही क्या। पर हमारा साहित्य अपने ऊपर किए जानेवाले घाव का सदा साक्षी रहेगा।

जैसा प्रो० रामदुलारी मिश्र बी० ए० ने 'आधुनिक कविता का विकास' लेख में लिखा है—"अँगरेज़ों का फौलादी पंजा सारे देश में व्याप्त था। 'गदर' को निर्दयता-पूर्वक दबा देने के कारण जनता आतंकित सी हो गई थी। यही कारण है कि हिन्दी कविता में 'गदर' से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं की कहीं छाया भी नहीं है—यद्यपि 'हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी'—लोकगीत बुंदेलखंड की ओर प्रचलित था, तो भी उसे साहित्य का रूप असहयोग-काल में सुभद्राकुमारी के द्वारा प्राप्त हुआ। देश-भक्ति का जो स्वर सुन पड़ता है, वह मुक्त नहीं है, कुण्ठित है, साथ ही राजभक्ति के उद्‌गारों से संतुलित भी है।" अस्तु, सरकार ने जनता को बुरी तरह दबाकर रखा। एक तो उसमें बदले की भावना थी, साथ ही उसे भय था कि कहीं फिर १८५७ की पुनरावृत्ति न हो जाय।

जनता में असंतोष और निराशा—महारानी की घोषणा की बात पहले कही जा चुकी है। लोगों को उससे भविष्य के लिए अच्छी आशाएँ बंधी थी। परन्तु शासन के व्यावहारिक रूप में खराबियाँ बनी रहीं। लोगों की आर्थिक दशा बहुत बुरी थी। अकालों का दुखदायी अनुभव करते हुए आदमी भूख के मारे प्राण दे रहे थे—इसलिए नहीं कि देश में खाद्य पदार्थों की कमी थी, वरन् इसलिए कि लोगों की खरीदने की शक्ति का ह्रास होगया था। व्यवसाय धंधे प्रायः अंगरेजों के हाथ में थे। किसान भी बड़े संकट में थे, उनसे लगान बड़ी कठोरता से वसूल किया जाता था। पुलिस और अदालतों की घूसखोरी से जनता को अलग ही कष्ट था।

जनता को आर्थिक कष्टों के अलावा और भी बहुत सी शिकायतें थीं। शिक्षित भारतीयों के ऊंची नौकरी प्राप्त करने में बाधा डाली जा

रही थी। समाचार-पत्रों का दमन करने के लिए कानून बन रहे थे। न्याय-कार्य में हिन्दुस्तानी और अँगरेज का भेद बना हुआ था। इस प्रकार शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के आदमियों में असंतोष बढ़ा हुआ था। सन् १८५७ की विफलता से एक निराशा का वातावरण छाया हुआ था। ऐसी स्थिति किसी विचारशील को वांछनीय नहीं प्रतीत होती। प्रश्न यह था कि इसमें यथेष्ट सुधार किस प्रकार किया जाय।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान, राजा राममोहन राय का कार्य —जब कोई जाति या राष्ट्र गहरी निराशा में डूबा होता है तो उसे अपने प्राचीन गौरव की याद से बड़ा सहारा मिलता है। उससे वह भविष्य की नई-नई आशाओं के पूरे होने की कल्पना करता है, और उस दिशा में कुछ प्रयत्न भी करने लगता है। इस प्रकार उसमें नव-जीवन का संचार होता है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर सांस्कृतिक पुनरुत्थान करनेवाला महापुरुष ही ऐसे समय में जनता का नेतृत्व और पथप्रदर्शन कर सकता है।

आधुनिक भारत में इस तत्व को सबसे पहले राजा राममोहन राय ने ग्रहण किया था। आप सन् १८५७ के स्वाधीनता-युद्ध से पहले हुए थे। आपने जनता को उपनिषदों की महानता का संदेश सुनाया था। जिस समय हिन्दू अपने आपको सब प्रकार दीन-हीन समझने लग गए थे, उस समय राजा साहब ने यह घोषणा की कि जबकि हमारे पास उपनिषदों का भारी भंडार मौजूद है, हमें अपने अन्दर लघुता की भावना न रख कर आत्मविश्वास-पूर्वक रहना चाहिए। निस्सन्देह राजा साहब आधुनिक भारत के जन्मदाता थे। आपने धार्मिक, सामाजिक, और शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों के साथ राजनैतिक जाग्रति में भी विलक्षण योग दिया। आपने भारत के अलावा इंगलैंड में भी शासन-सुधारों के लिए आन्दोलन किया। आप पहले भारतवासी थे, जिसने पार्लिमेंट की कमेटी के सामने गवाही देने के लिए विलायत-यात्रा की। आपके

५

द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज ने और पीछे सर्वश्री देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित नवीन ब्रह्मसमाज और आदि-ब्रह्मसमाज ने और बम्बई प्रान्त की प्रार्थना-समाज ने निराश और दुखी लोगों को आशामय भविष्य की सूचना दी।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज—राजा राममोहन राय ने उपनिषदों की महानता का संदेश दिया था, तो स्वामी दयानन्द (सन् १८२४—८३) ने वेदों की महत्ता का डंका बजाया। आपने श्रुति स्मृति और पुराणादि सब धार्मिक ग्रन्थों के लिए वेदों की कसौटी निर्धारित की। आपने जगह-जगह घूम-फिर कर लोगों को वैदिक संस्कृति का संदेश सुनाया। आपने दूरदर्शिता-पूर्वक अपना प्रचार कार्य देश-भाषा हिन्दी में किया, जिसे वे आर्य-भाषा कहते थे। इससे जनता में जागृति की लहर बड़े वेग से फैली। स्थान-स्थान पर आर्यसमाज की स्थापना होती गई, जिनके सदस्यों में सार्वजनिक कार्यों के लिए खूब भावना भरी होती थी। आपने धार्मिक और सामाजिक विषयों के साथ राजनीति का भी विवेचन किया। आपने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश में स्पष्ट लिखा कि '*विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हो, अच्छा होता है।*'

स्वामी जी की प्रेरणा से लोगों में स्वदेशी, स्वधर्म, स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की भावनाएँ बढ़ीं। आर्यसमाज के पीछे दो दल हो गए। गुरुकुल-दल ब्रह्मचर्य और वैदिक शिक्षा-पद्धति को मानने लगा, और कालिज-दल आधुनिक ढंग की शिक्षा का समर्थक है। गुरुकुल-दल के प्रवर्तक थे स्वामी श्रद्धानन्द जी, और कालिज दल के प्रवर्तक हुए लाला लाजपत राय। सरकार की आर्यसमाजियों पर कड़ी निगाह रही, और वह इन्हें विद्रोही समझने लगी, क्योंकि ये अपने उपदेशों, व्याख्यानों, लेखों और भजनों में प्राचीन भारत की महिमा और आधुनिक भारत की दुरवस्था का बड़ा हृदयग्राही चित्र उपस्थित करते थे।

थियोसोफीकल सोसायटी—अमरीका आदि में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना करनेवाले कर्नल आल्काट ने भारतवर्ष में इस संस्था की शाखाएँ स्थापित करके यहाँ के सांस्कृतिक उत्थान में बहुत सहायता दी। यद्यपि इस संस्था का उद्देश्य विश्वबंधुत्व का प्रचार करना है, इसने पूर्वी संस्कृति के गुणों का आदर किया और हिंदुओं को सुझाया कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म बहुत ऊंचे दर्जे का है, उसका गौरव पहिचानो; हाँ, उनमें जो दुर्गुण आघुसे हैं, उन्हें निकाल बाहर करो। थियोसोफिकल सोसायटी की एक महान कार्यकर्त्री श्रीमती एनी-बिसेंट ने बनारस में हिन्दू कालिज की स्थापना करके तथा अनेक लेखों, पुस्तकों और भाषणों से भारतीय जागृति में अच्छा योग दिया। आपने महिलाओं के उत्थान तथा राजनैतिक सुधारों के लिए भी खूब काम किया।

रामकृष्ण मिशन—उन्नीसवीं सदी में, हिन्दुओं में सांस्कृतिक पुनरुत्थान करनेवाली एक और विशेष उल्लेखनीय संस्था रामकृष्ण मिशन है। श्री रामकृष्ण परमहंस के पट्ट शिष्य स्वामी विवेकानन्द जी ने आपके विचारों का प्रचार पूर्व और पश्चिम दोनों जगह किया। आपने अपने लेखों और भाषणों से पाठकों और श्रोताओं में आत्मविश्वास का खूब संचार किया। आपने दृढ़ता-पूर्वक घोषणा की—"*लम्बी-से-लम्बी रात अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। हमारी मातृभूमि अपनी गहरी लम्बी नींद से जाग रही है, कोई अब उसे रोक नहीं सकता, कदापि वह अब सो नहीं सकती। संसार की कोई शक्ति या शक्तियाँ अब उसे पीछे हटा नहीं सकतीं, क्योंकि यह अनन्त शक्तिशाली देवी अपने पैरों पर खड़ी हो रही है।*"

स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने लोगों को बताया कि वेदान्त धर्म केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मनुष्य-मात्र के कल्याण के वास्ते है। रामकृष्ण मिशन की ओर से खासकर रोगियों की सेवा करने वाले अनेक आश्रम चल रहे हैं।

मुसलमानों में प्राचीनता का पुनर्निर्माण—सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रहे; मुस्लिम समाज में भी इस प्रकार की प्रवृत्तियों का उदय हुआ। 'कुरान की ओर लौटने' के आन्दोलनों ने जोर पकड़ा। श्री० शान्तिप्रसाद वर्मा ने 'हमारी राजनैतिक सस्थाएँ' में लिखा है—"उनका आधार भी प्राचीन की ओर लौटने - कुरान, पैगम्बर और हदीस में ही अपना विश्वास रखने—पर था। इन आन्दोलनों के नेताओं में से दिल्ली के शाह अब्दुलअजीज ने इस्लाम को उन अन्ध-विश्वाओं और रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयत्न किया, जो उसने हिन्दू समाज से ली थीं, और पैगम्बर द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का प्रचार किया। बरेली के सैयद अहमद ने 'तरीकए-मोहम्मदिया' की स्थापना की, जिसके अनुसार हिन्दुस्तान को 'दारुल हर्ब' करार दिया गया था, जहाँ मुसलमानों को जिहाद (धार्मिक युद्ध) करते रहना आवश्यक था। जौनपुर के शाह करामतअली इतने उग्र विचारों के न थे पर उन्होंने भी असंख्य मुसलमानों को शुद्ध इस्लामी जीवन की ओर प्रवृत्त करने में बड़ी सहायता पहुँचाई। फरीद-पुर के हाजी शरीयतुल्ला व उनके पुत्र दूधूमियाँ द्वारा चलाए गए फरैजी आन्दोलन का उद्देश्य केवल धार्मिक शुद्धता का प्रचार ही नहीं था, उसने राजनैतिक असन्तोष को भी उकसाया। अहले हदीस और मिर्जा गुलाम कादियानी के अनुयाइयों में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी।"

आन्दोलनों का प्रभाव—इन आन्दोलनों से लोगों में सामाजिक भावना का उदय हुआ, वे खासकर अपनी जाति का धर्म वाले लोगों की उन्नति की बातें सोचने लगे। कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ प्रादेशिक आधार पर बनी। आदमी अपने गांव, नगर, या जिले आदि के हित का विचार करने लगे। दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी तथा मेले-तमाशों आदि के अवसर जनता की सहायता करने के लिए सेवा समितियाँ आदि संस्थाएँ बनीं। कितने ही स्थानों में प्याऊ, सदावर्त, पाठशालाएँ, और औषधालय आदि खुले। जगह-जगह सार्वजनिक सभाएँ होने लगी,

जिनमें धार्मिक और सामाजिक सुधार, शिक्षा-प्रचार आदि के अतिरिक्त कभी-कभी राजनैतिक विषयों का विचार-विनिमय होने लगा। निदान, इन आन्दोलनों से आदमी लोकसेवा या सार्वजनिक कार्य करने में खूब उत्साह दिखाने लगे और देश में विविध प्रकार की जागृति होने लगी।

एक दोष; साम्प्रदायिक भावना की उत्पत्ति—प्राचीनता-पुनर्निर्माण आन्दोलन के गुण तो ऊपर बताए जा चुके हैं। पर इसमें एक दोष भी रहा। यद्यपि उसका अनुभव पीछे जाकर हुआ, उसका उल्लेख करना आवश्यक है; कारण, उसका हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दुओं को वैदिक जीवन और आर्य सभ्यता की ओर लौटाने में यह भुला दिया गया कि अब यहाँ केवल आर्य जाति का ही निवास नहीं है, वरन् मुसलमान आदि भी खासी संख्या में रहते हैं, और उनसे हिन्दुओं का चोली-दामन का साथ है। इसी प्रकार मुस्लिम पुनरुत्थान के नेताओं ने यह ध्यान नहीं रखा कि जिस सभ्यता का विकास अरब में हजरत मोहम्मद और खलीफाओं द्वारा हुआ था, वह इतनी सदियों बाद हिन्दुस्तान में नहीं लाई जा सकती।

पिछले सैकड़ों वर्ष साथ-साथ रहने से हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियाँ मिलकर एक नई संस्कृति बनती जा रही थी, अब दोनों जातियाँ अपने जुदा-जुदा आदर्शों को खोजने लग गई। धार्मिक और सामाजिक सुधार तक तो बात ठीक रही, पर हमारी राजनीति भी साम्प्रदायिकता-मिश्रित हो गई। अच्छे-अच्छे राजनैतिक कार्यकर्ता भी अपने व्यवहार में यह नहीं भुला सके कि वे हिन्दू हैं, या मुसलमान। राष्ट्रीयता की भावना पहले हिन्दुओं में विकसित हुई, उनके झंडे, गीत, प्रतीक और नारे सब पर हिन्दुत्व की छाप थी, भारतीयता की नहीं। मुसलमानों को इससे चौंकना स्वाभाविक था। उनके राष्ट्रीय कहे जानेवाले नेता भी अनेक बार अपनी साम्प्रदायिकता को नहीं छोड़ सके। अँगरेजों ने इससे खूब लाभ उठाया और इसे प्रोत्साहन दिया।

कुछ चिरस्मरणीय महापुरुष—अस्तु, सन् १८५७ के बाद जिन अनेक महानुभावों ने अपने कार्यों तथा आदर्शों से जनता में लोक-सेवा की भावना बढ़ाई, और निराशा के वातावरण में भी जन-जागृति में योग दिया, उनके प्रति हम कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह सकते। भले ही उनमें से कुछ की कोई-कोई बात या कार्य हमें इस समय ठीक न जचता हो, हमें याद रखना चाहिए कि उनके परिश्रम, त्याग और बलिदान की बदौलत ही भारतीय राष्ट्र की प्रगति की नींव रखी गई थी। उसी के आधार पर हम आगे बढ़े हैं। इस प्रसंग में श्री० दादाभाई नौरोजी विशेष रूप से याद आते हैं। आपने सन् १८४५ से, जब कि आप केवल बीस वर्ष के थे, ८१ वर्ष की उम्र तक सार्वजनिक जीवन में भाग लिया। भारतवासी आपको श्रद्धापूर्वक 'ऋषिकल्प' दादाभाई नौरोजी कहते थे। आप कांग्रेस के संस्थापकों में से थे, इसके अलावा दो दर्जन से अधिक सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के जन्मदाता और स्वयं एक संस्था थे। आप ने उस युग में देश-सेवा का उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किया। आपके लेखों और भाषणों में प्रभावकारी गम्भीरता और निर्भीकता था। आपने इंगलैंड में रह कर अँगरेजों को इस देश की दशा का ज्ञान कराया। आपकी अँगरेजी पुस्तक 'भारत की निर्धनता और अ-ब्रिटिश शासन' अपने ढंग की अद्वितीय रही है।

कांग्रेस की स्थापना (सन् १८८५) से पहले जिन अन्य महानुभावों ने सार्वजनिक कार्यों में विशेष भाग लिया और जो पीछे विशेष सम्मानित नेता माने गए, उनके विषय में अलग-अलग लिखने का लोभ, स्थानाभाव के कारण, हमें रोकना ही पड़ेगा। कुछ का पीछे प्रसंगानुसार उल्लेख किया जायगा, यहाँ तो उनका शुभ नाम देकर ही संतोष करना है—

बम्बई में महादेव गोविन्द रानाडे, बदरुद्दीन तैयब जी, फिरोजशाह मेहता, काशीनाथ त्रयम्बक तैलंग, दीनशा ईदल जी वाचा, नारायण गणेश चन्दावरकर और बाल गंगाधर तिलक; बंगाल में व्योमेशचन्द्र

बेनर्जी, मनमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, लाल मोहन घोष, आनन्द-मोहन बोस और कालीचरण बेनर्जी; मद्रास में एस० सुब्रह्मण्यम ऐयर लक्ष्मी नृसिंह चेट्टी, जी० सुब्रह्मण्यम ऐयर, आनन्द चार्लू, रामास्वामी मुदालियर, और विजय राघवाचार्य; और संयुक्तप्रान्त में पंडित मदन मोहन मालवीय आदि।

विविध सार्वजनिक संस्थाएँ--इन तथा अन्य सज्जनों के परिश्रम और लगन के फल-स्वरूप देश में जगह-जगह विविध सार्वजनिक संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में भरसक कार्य करने लगी। बंगाल में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' सन् १८५१ से थी। यह बंगाल, विहार और उड़ीसा के ज़मीदारों की संस्था थी। उसने उस पुराने ज़माने में राजनैतिक कार्य आरम्भ किया था। इसका 'हिन्दू पेट्रियट' नाम का एक पत्र भी था। इसके सुप्रसिद्ध सम्पादक सर्वश्री रामगोपाल घोष, राजेन्द्रलाल मित्र आदि ने इसी संस्था के द्वारा सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था। यह संस्था खासकर जमींदारों की होने के कारण कुछ समय बाद ऐसी संस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगी जो अधिक व्यापक रूप में जनता की संस्था हो। 'अमृतबाजार पत्रिका' के सुविख्यात संपादक श्री शिशिरकुमार घोष आदि के प्रयत्न से बंगाल नेशनल लीग स्थापित हुई। पीछे इसका स्थान इंडयन एसोसिएशन' ने ले लिया, जिसकी स्थापना सर्वश्री सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी और आनन्दमोहन बोस ने की थी। श्री० बेनर्जी ने 'बंगाली' का सम्पादन खूब निर्भीकता से किया। आप बहुत प्रभावशाली वक्ता थे।

बम्बई प्रान्त में सार्वजनिक कार्य करनेवाली संस्था, पहले 'बम्बई एसोसिएशन' थी; इसके मुख्य कार्यकर्ता प्रसिद्ध कानून-विशारद विश्वनाथ नारायण मांडलिक थे। इस संस्था का स्थान पीछे, सन् १८८५ में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोशिएशन' ने ले लिया, जिसके साथ सर फीरोजशाह मेहता और सर दीनशा वाचा का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पूना में, लोक-सेवा करनेवाली संस्था 'सार्वजनिक सभा' थी। इसके सर्वस्व श्री

महादेव गोविन्द रानाडे थे, जिन्होंने अपने साथियों से मतभेद होने पर पीछे 'दक्षिण सभा' की स्थापना की। श्री० गोपालकृष्ण गोखले ने क्रमशः इन दोनों संस्थाओं के मंत्री का कार्य बहुत ही योग्यता-पूर्वक सम्पादित किया। 'सार्वजनिक सभा' की त्रैमासिक पत्रिका के अंकों में बहुत विचार-सामग्री रहती थी।

मदरास में श्री लक्ष्मीनरसिंह चेट्टी द्वारा स्थापित 'मदरास नेटिव एसोसिएशन' नाम की संस्था तथा 'क्रेसेन्ट' नामक पत्र ने अच्छा काम किया। यहाँ की 'महाजन सभा' भी उल्लेखनीय है, जो सन् १८८१ में स्थापित हुई थी।

समाचार-पत्र—इस समय सार्वजनिक जीवन का एक मुख्य अंग समाचार-पत्र थे। सन् १८५७ में लगभग ४७५ अखबार निकलते थे, जिनमें से अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं के थे। सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के मुख-पत्र 'पयामे आज़ादी' का परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। बंगाल के पत्रों में 'हिन्दू पेट्रियट', 'बंगाली' और 'अमृतबाजार पत्रिका' का उल्लेख ऊपर किया गया है। 'पत्रिका' का सम्पादन बाबू शिशिरकुमार घोष के पश्चात् उनके छोटे भाई मोती-लाल घोष ने किया। केवल देशी भाषाओं के पत्रों पर लागू होनेवाले 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' के प्रहार से बचने के लिए यह पत्र एकदम बंगला से अँगरेजी का हो गया। बंगाल के 'इंडियन मिरर' के संस्थापकों में ब्रह्मसमाज के सुप्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन भी थे।

बम्बई में श्री दादाभाई नौरोजी ने 'वायस-आफ-इंडया' और श्री मांडलिक ने 'नेटिव ओपिनियन' की स्थापना की। 'इंडयन स्पेक्टेटर' श्री मालाबारी का पत्र था। 'इन्दुप्रकाश' पहले श्री तैलङ्ग के हाथ में था, पीछे श्री चन्दावरकर के। 'केसरी' के सम्पादक पहले श्री आगरकर थे, पीछे लो० तिलक। अँगरेजी के 'मराठा' का भी सम्पादन लो० तिलक करते थे। मदरास का 'हिन्दू' पत्रकार-कला का उत्कृष्ट उदाहरण था; इसके प्रथम सम्पादक श्री जी० सुब्रह्मण्य ऐयर थे। प्रयाग से पंडित

अयोध्यानाथ जी ने 'इंडयन हेरल्ड' और सरदार दयालसिंह मजीठिया ने लाहौर से 'ट्रिब्यून' निकाला। और भी अनेक पत्र थे; यहाँ तो उदाहरण-स्वरूप थोड़े से ही पत्रों का उल्लेख किया गया है। अस्तु, विविध पत्रों ने यहाँ लोकमत को जाग्रत और निश्चित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया।

विश्वविद्यालय—यह तो जनता द्वारा किए गए सांस्कृतिक कार्यों की बात हुई। अब सरकार के एक कार्य का विचार करें। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के सरकारी विश्वविद्यालयों का कार्य सन् १८५८ में आरम्भ हुआ। इसे विविध लेखकों ने जुदा-जुदा दृष्टिकोण से देखा है। कुछ सज्जनों ने इसे इंगलैंड की ओर से भारत के प्रति सद्भावना और आशा का संदेश समझा है। दूसरे सज्जनों ने इसे साम्राज्यवाद का एक दृढ़ स्तम्भ स्थापित करना कहा है। पाठक जानते हैं कि भारत सरकार की शिक्षा-नीति निर्धारित करने में जिस मैकाले का बड़ा हाथ रहा है, उसने कहा था—'हमें अपनी सारी शक्ति लगा कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें जिसके आदमी हमारे, और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिए का काम कर सकें; जो जाति और रंग में तो भारतीय हो रहें, परन्तु रुचि विचार, भाषा और भावों में पूरे अँगरेज हों।' ऐसी स्थिति में हम अँगरेजों के इस कार्य को शुद्ध लोकहित का मानने में असमर्थ हैं। अँगरेजी शिक्षा के अनेक दोषों को सहज ही भुलाया नहीं जा सकता। तथापि हम यह स्वीकार करते हैं कि इससे हमें पश्चिम के उन्नत देशों की सामाजिक, धार्मिक, और राजनैतिक स्थिति का ज्ञान हुआ, यहाँ कला-कौशल और विज्ञान का अध्ययन बढ़ा, अँगरेजी भाषा द्वारा इस देश के विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों के आपसी सम्पर्क की वृद्धि हुई और इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास में सहायता मिली। सन् १८५७ के बाद भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लेनेवालों में विश्वविद्यालयों से निकलने वाले सज्जनों का यथेष्ट भाग रहा है। इससे हम

विश्वविद्यालयों के सांस्कृतिक उपयोग का सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

विशेष वक्तव्य—सन् १८५७ के बाद के २५ वर्षों में विविध सज्जनों और संस्थाओं ने अपने लगातार परिश्रम से खासकर बम्बई और बंगाल में, और साधारणतया अन्य प्रान्तों में सार्वजनिक चेतना का खासा काम किया; विविध पत्र-पत्रिकाओं से भी लोकमत जाग्रत होने लगा। तथापि लोकमत ऐसा सुसंगठित नहीं हुआ कि सरकार पर विशेष प्रभाव डाल सके। भारत-सरकार की नीति बहुत-कुछ ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लिमेंट की तत्कालीन नीति के अनुसार निर्धारित होती रही; कभी-कभी कोई लोकहित का भी कार्य हो गया, पर साधारणतया अहितकर कार्यों की ही भरमार रही। प्रान्तीय राजनैतिक संस्थाओं ने संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया, इसके विषय में आगे लिखा जायगा।

चौथा अध्याय

कांग्रेस आन्दोलन (१)

[सन् १८८५ से १९१६ तक]

शुरू में हमारी दृष्टि ऊँची सरकारी नौकरियाँ व शासन में कुछ अधिकार पा लेने पर थी। बाद में स्वराज्य का अस्पष्ट और धुंधला रेखा-चित्र हमारे सामने आया, और तब पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की स्थापना हुई।

—शान्तिप्रसाद वर्मा

अखिल भारतवर्षीय राजनैतिक संस्था का विचार—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विविध संस्थाएँ स्थापित हो गई थी, जगह-जगह से पत्र-त्रिकाएँ

प्रकाशित होने लगी थीं, इस प्रकार सार्वजनिक भावना का उदय होता जा रहा था। सन् १८७६ में सरकार ने अपने एक जाति-द्वेष-मूलक कार्य से इसे प्रगति प्रदान की। उस समय इंडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षा इंगलैंड में होती थी। तो भी कुछ भारतीय युवक इसे पास कर लेते थे। यह देख कर, उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करने के लिए सरकार ने इस परीक्षा में बैठने की उम्र घटाकर १८ वर्ष कर दी। इसके विरोध में प्रचार करने के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने देश भर में दौरा किया। इससे एक राष्ट्रीय संस्था के निर्माण का विचार प्रबल हुआ। इसमें सहायता देनेवाली एक खास बात और हुई। इस समय भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन थे, जो साम्राज्यवादी और प्रतिक्रियावादी होने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। आपके शासन-काल (१८७६-८०) में यहाँ खासकर दक्षिण में भयंकर अकाल था, तो भी आप सशस्त्र क्रान्तियों को रोकने के लिए शस्त्र-कानून, और लोकमत को दबाने के लिए वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, बनाने में लगे थे। आपने एक ओर तो दूसरे अफगान-युद्ध की घोषणा की और दूसरी ओर महारानी विक्टोरिया को साम्राज्ञी की उपाधि से विभूषित करने के लिए शाही दरबार जैसे खर्चीले काम की तैयारी की। उनकी इस उपेक्षा ने जनमत को संगठित होने का अच्छा अवसर दिया।

श्री ह्यूम का उद्योग—इस समय जनता के तीव्र असंतोष को देख कर जहाँ-तहाँ अनेक सहृदय सज्जनों को यह आशंका होने लगी कि यदि लोगों को सरकार के सामने अपनी शिकायतें प्रकट करने का कोई वैध मार्ग न मिलेगा तो उनमें फिर सन् १८५७ की सी हिंसात्मक भावनाओं का उदय हो जायगा, अथवा गुप्त क्रान्तिकारी षड़यन्त्रों की बेढब वृद्धि होगी। श्री ए० ओ० ह्यूम को ऐसी रिपोर्टें मिली थीं, जिनमें भिन्न-भिन्न जिलों में क्रान्ति का भाव फैलने का वर्णन था। इन्होंने दूरदर्शिता-पूर्वक भारतीयों को एक ऐसी संस्था स्थापित करने की बात सुझाई, जिसके द्वारा ये अपनी आवश्यकताएँ सरकार के सामने

उपस्थित कर सकें, और इस प्रकार क्रान्ति की भावना का परित्याग कर वैध आन्दोलन का मार्ग ग्रहण करें। इन्होंने १ मार्च १८८३ को कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों के नाम एक मार्मिक पत्र लिखा, उसमें इन्होंने ५० ऐसे आदमियों की मांग की, जो सच्चे, निस्वार्थ, आत्मसंयमी और लोकसेवी हों। ये ५० सज्जन एक सभा संगठित करें; सभा का विधान प्रजासत्तात्मक हो, सभा के आदमी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से मुक्त हों और उनका यह आदर्श हो कि 'जो तुममें सबसे बड़ा है, उसी को अपना सेवक होने दो।' श्री ह्यूम ने पत्र में साफ लिखा था कि 'यदि आप अपना स्वार्थ, सुख और आराम नहीं छोड़ सकते तो कम-से-कम इस समय आपको प्रगति की आशा व्यर्थ है, और यह कहना होगा कि भारतवर्ष वास्तव में न तो मौजूदा सरकार से बेहतर शासन चाहता है और न वह उसके योग्य ही है।'

कांग्रेस की स्थापना—श्री ह्यूम ने इस विषय में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन की राय ली। वे भी ऐसी संस्था की बहुत आवश्यकता अनुभव करते थे, जो प्रति वर्ष एक स्थान पर मिलकर सरकार को उसकी त्रुटियाँ सुझाती रहे और भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में वैसा भाग ले सके, जैसा इंगलैंड में पार्लिमेंट का विरोधी दल लेता है। अस्तु, श्री ह्यूम देश के प्रमुख नेताओं और शिक्षितों से पत्र-व्यवहार करके अभीष्ट संस्था स्थापित करने के उद्योग में लग गए। सन् १८८३ में कलकत्ते में एक राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने की योजना की गई थी। अगले वर्ष मदरास में थियोसोफिस्ट सम्मेलन में इस विचार की पुष्टि हुई। आखिर, सन् १८८४ में श्री ह्यूम आदि के उद्योग से 'इंडियन नेशनल यूनियन' के नाम से एक संस्था स्थापित हो गई। पीछे इसका नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (भारतीय राष्ट्रीय महासभा) पड़ा। श्री ह्यूम ने इसके लिए खूब काम किया। ये इसके मंत्री रहे तथा देश भर में घूम फिरकर इसे लोकप्रिय बनाते रहे। इस प्रकार समय-समय पर कुछ अंगरेजों ने भी हमारे स्वाधीनता-संग्राम में बहुत सहानुभूति और सहयोग प्रदान किया है।

कांग्रेस का पहला अधिवेशन—कांग्रेस का पहला अधिवेशन दिसम्बर १८८५ में, बम्बई में हुआ। उसके सभापति श्री व्योमेशचन्द्र बेनर्जी थे। उस अधिवेशन में कुल ७२ सज्जन उपस्थित हुए थे, जिनमें से १ मुसलमान था। ये सज्जन देश की विविध सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से प्रतिनिधि बन कर नहीं आए थे; हाँ, ये देशहितैषी और चुने हुए विद्वान। प्रस्ताव तैयार करने आदि में कई सरकारी कर्मचारियों ने भी भाग लिया था; उस समय सरकारी कर्मचारियों को इस विषय में काफी स्वतंत्रता थी, जो पीछे अपहरण कर ली गई।

अधिवेशन में पहला प्रस्ताव इस आशय का था कि भारतीय शासन-पद्धति की जाँच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया जाय। दो अन्य प्रस्तावों में यह कहा गया कि व्यवस्थापक परिषदों का सुधार और विस्तार हो तथा इंडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षा इंगलैंड और भारत दोनों जगह होनी चाहिए। एक प्रस्ताव इस विषय का था कि उत्तरी बर्मा में ब्रिटिश शासन स्थापित न किया जाय, और अगर किया ही जाय तो बर्मा को न तो भारत का अंग बनाया जाय और न उस पर भारत का धन खर्च किया जाय। इंडिया-कौंसिल (भारत-मंत्री की सभा) को तोड़ने और भारत के फौजी खर्च को कम करने के भी प्रस्ताव स्वीकार किए गए थे।

कांग्रेस की बल-वृद्धि; दूसरा और तीसरा अधिवेशन—धीरे-धीरे कांग्रेस उन्नति करती गई और इसका क्षेत्र भी बढ़ता गया। दूसरा अधिवेशन (सन् १८८६) कलकत्ते में हुआ। श्री दादाभाई नौरोजी सभापति थे। इसमें ३३ मुसलमानों सहित कुल मिलाकर ४३६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया, इनका निर्वाचन सार्वजनिक संस्थाओं और सभाओं द्वारा हुआ था। तीसरा अधिवेशन मदरास में, सन् १८८७ में हुआ तो प्रतिनिधियों की संख्या ६०७ थी। सभापति श्री बदरुद्दीन तैयब जी थे; ये कांग्रेस के प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन में भारत-हितैषी अँगरेज श्री० अर्डले नार्टन भी शामिल हुए थे।

इन दिनों राज-विद्रोह के मुकदमे चलना एक साधारण बात हो रही थी। श्री० नार्टन को एक अंगरेज ने 'छिपा विद्रोही' कहा था। इसका आपने करारा जवाब देते हुए कहा—

'अगर अन्याय का विरोध करना राजविद्रोह हो, अगर इस बात के लिए कोशिश करना कि भारतवासियों को अपने देश के शासन में समुचित भाग मिलना चाहिए राजविद्रोह हो, अगर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करना राजविद्रोह हो तो मुझे राज-विद्रोही कहलाने में बड़ी प्रसन्नता है। और, जब मै देखता हूँ कि मेरे चारों ओर राजविद्रोहियों का ऐसा प्रतिष्ठित समूह मौजूद है तो मेरी प्रसन्नता दूनी-तिगुनी बढ़ जाती है।'

चौथा अधिवेशन; संघर्ष का सामना—कांग्रेस का चौथा अधिवेशन सन् १८८८ में, प्रयाग में, हुआ। संयुक्तप्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर और सर सैयद अहमद इसके प्रबल विरोधी थे। सर सैयद ने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी। पर विरोध का असर दूसरा ही हुआ। इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष पंडित अयोध्यानाथ जी ने जनता में खूब प्रचार किया। अधिवेशन में उपस्थित होनेवाले प्रतिनिधियों की संख्या १२४८ हो गई, जिनमें २३१ मुसलमान थे। सभापति थे श्री जार्जयूल। आप कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को सुशोभित करनेवाले प्रथम अंगरेज सज्जन थे। आपका भाषण बहुत महत्वपूर्ण था, कांग्रेस आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध में आपका यह कथन कितना मार्के का था—

'पहली मंज़िल तो मजाक उड़ाए जाने की होती है। जब आन्दोलन कुछ जोर पकड़ लेता है तो फिर लोग उसे बुरा-भला कहना शुरू कर देते हैं। इसके बाद उसके साथ कुछ रिआयतें की जाती हैं, और कुछ उसके उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी फैलाई जाती है, और साथ ही यह चेतावनी दी जाती है कि अज्ञात प्रदेश में लम्बी डग रखना खतरे का काम होगा। आखिरी मंजिल यह

होती है कि उसके उद्देश्य को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया जाता है. और साथ ही इस बात पर कुछ आश्चर्य भी प्रकट किया जाता है कि उसे पहले ही क्यों नहीं स्वीकार कर लिया गया।'

पाँचवाँ अधिवेशन—कांग्रेस का पाँचवाँ अधिवेशन बम्बई में हुआ। इस वर्ष प्रतिनिधियों की संख्या में और भी वृद्धि हुई और संयोग से सन् १८८६ में होने वाले अधिवेशन में उनकी संख्या भी १८८६ ही थी। सभापति थे श्री० विलियम वेडरबर्न। श्री० गोखले इस वर्ष कांग्रेस में पहली ही बार शामिल हुए थे। आपके भाषण की सफलता से यह भविष्यवाणी की जाने लगी कि आप आगे चल कर कांग्रेस के सभापति होंगे।

अगले अधिवेशन; कौंसिल-कानून—कांग्रेस की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती देख कर अधिकारी इसे सन्देह की नज़र से देखने लगे। इस संस्था में विविध दोष निकाले जाने लगे। इसे केवल हिन्दुओं की सभा कहकर मुसलमानों को इससे विरक्त करने का प्रयत्न किया गया और इसमें भाग लेनेवालों पर कड़ी निगाह रखी जाने लगी, सरकारी कर्मचारियों पर तो प्रतिबन्ध ही लगा दिए गए। तथापि कांग्रेस का कार्य यथा-सम्भव चलता रहा। पहले उसके सामने मुख्य विषय व्यवस्थापक परिषदों के सुधार और विस्तार का रहता था। ब्रिटिश पार्लिमेंट ने पहले सन् १८६१ में जो 'इंडियन कौंसिल्स एक्ट' पास किया था, उसके अनुसार मदरास और बम्बई की सरकारों को क़ानून बनाने का अधिकार दिया गया था। यह व्यवस्था की गई थी कि कानून बनाने के लिए प्रबन्धकारिणी कौंसिल के सदस्यों में सरकार द्वारा कुछ सदस्य गैर-सरकारी भी नामजद किए जाया करें। इस कानून के अनुसार पीछे बम्बई और मदरास के अलावा कई अन्य प्रान्तों में भी व्यवस्थापक परिषदों की स्थापना हुई थी। अब बहुत-कुछ कांग्रेस आन्दोलन के फल-स्वरूप १८६२ का 'इंडियन कौंसिल्स एक्ट' बनाया गया। इससे विश्वविद्यालयों, म्युनिसपैलटियों और जिला-बोर्डों को तथा जागीरदार

आदि विशेष समूहों को व्यवस्थापक परिषदों के लिए सदस्य चुनने का अधिकार मिला। यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन था। सदस्यों को परिषदों में प्रश्न पूछने का तथा बजट पर बहस करने का भी कुछ अधिकार दिया गया था।

इस कानून के बन जाने के बाद कांग्रेस-अधिवेशन में प्रमुख स्थान इस प्रस्ताव को दिया गया कि इंडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षा इंगलैंड और भारत में साथ-साथ हो। जून १८९३ में इस आशय का प्रस्ताव ब्रिटिश पार्लिमेंट में पास हो गया। परन्तु अगले ही साल सरकार ने यह घोषणा करदी कि इस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया जायगा। सन् १८९३ में, लाहौर में श्री दादाभाई नौरोजी दूसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। उस समय आप ब्रिटिश पार्लिमेंट की कामन-सभा के सदस्य (एम० पी०) थे। आप सर्वप्रथम भारतीय एम० पी० थे। सन् १९०५ तक कांग्रेस के अधिवेशन साधारण तौर से हुआ और उनमें तत्कालीन आवश्यकताओं के प्रस्तावों पर विचार होता रहा।

कांग्रेस की नीति—कांग्रेस के प्रथम सभापति के कथनानुसार कांग्रेस की स्थापना खासकर एक समाज-सुधारक संगठन के रूप में हुई थी। इसका एक उद्देश्य मैत्रीपूर्ण सम्पर्क द्वारा जाति-पांति, रंग-भेद और प्रान्त-भेद की भावना को हटा कर देश-प्रेमियों में एकता बढ़ाना था। अगले वर्ष (१८८६) कांग्रेस के अध्यक्ष श्री दादाभाई नौरोजी ने साफ कह दिया कि कांग्रेस एक शुद्ध राजनैतिक संस्था है। पीछे एक कमेटी इसलिए नियुक्त की गई कि वह कांग्रेस के विधान तथा कार्य-संचालन की योजना तैयार करे। परन्तु सन् १८९८ तक यह कार्य पूरा नहीं हुआ। सन् १८९९ में लखनऊ में एक विधान स्वीकार किया गया, उसमें कांग्रेस का ध्येय यह बताया गया—वैधानिक उपायों द्वारा भारतीय साम्राज्य की जनता के हित और कल्याण को अग्रसर करना।

सन् १९०५ तक कांग्रेस की नीति सरकार से जांच-कमीशनों की मांग

करने, प्रार्थना-पत्र उपस्थित करने और इंगलैंड डेप्यूटेशन भेजने की रही, जिसे जोशीले सज्जनों ने 'भिक्षांदेही-नीति' कहा है। कांग्रेस को इस समय ब्रिटिश सरकार की निस्पक्षता और ईमानदारी में वेढब विश्वास था, इसका परिचय तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्षों के भाषणों से अच्छी तरह मिल जाता है। सन् १६०५ से इसमें कुछ परिवर्तन हुआ।

बंगाल-विभाजन और राष्ट्रीय आन्दोलन—लार्ड कर्ज़न के कार्यों और खासकर बंगाल के विभाजन ने उस प्रान्त में प्रबल अशान्ति उत्पन्न करदी, इसकी लहर देश भर में फैल गई। विभाजन-योजना के अनुसार चटगांव और उत्तरी बंगाल के छः जिलों को आसाम में मिलाना था। इसके विरोध में सत्तर हजार से अधिक आदमियों के हस्ताक्षर से एक आवेदन-पत्र ब्रिटिश सरकार के पास भेजा गया। इसी विभाजन के फलस्वरूप देश-व्यापी स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी वस्तु-वहिष्कार का सूत्रपात हुआ। वहिष्कार की लहर सरकारी स्कूलों आदि तक भी पहुँच गई। श्री विपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करने के लिए राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित करने के आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। अँगरेजों के अब तक के शासन में यह पहला अवसर था कि भारतवर्ष में उत्तर से दक्षिण तक जनता इस प्रकार सरकार-विरोधी हो और वह अपनी भावना स्वदेशी, वहिष्कार, तथा राष्ट्रीय शिक्षा जैसे क्रियात्मक रूपों में प्रगट करे।

कांग्रेस-संगठन अब बहुत विशाल हो गया। सरकार को इससे बड़ी चिन्ता हुई, और उसने इसके प्रतिकार के रूप में हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव डालने और सर सैयदअहमद खां आदि की सहायता से मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने का प्रयत्न किया। इसमें वह कुछ अंश तक सफल भी हुई। पर बंगाल-विभाजन के सम्बन्ध में अधिकांश बंगाली जनता एकमत होकर विरोध करती रही।

'स्वराज्य' शब्द का प्रथम प्रयोग—बंगाल-विभाजन होने के बाद श्री० अरविन्द और तिलक के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल सङ्गठित हो

रहा था। इसने कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य घोषित किए जाने की माँग की। कांग्रेस अधिवेशन में 'स्वराज्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कलकत्ते में, सन् १६०६ में हुआ। इसके अध्यक्ष श्री दादाभाई नौरोजी ने स्पष्ट कह दिया कि स्वराज्य भारतवर्ष का सामान्य ध्येय है। कांग्रेस के सामने स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न हैं। स्मरण रहे कि उस समय 'स्वराज्य' का अर्थ वह नहीं था, जो पीछे धीरे-धीरे विकसित होकर हो गया।

नरम और गरम दल—सरकार के असंतोषजनक कार्यों और नीति से भारतीय राजनीति में सन् १६०३ से ही उग्रता बढ़ती नज़र आने लगी थी। श्री विपिनचन्द्र पाल ने अपने द्वारा सम्पादित 'न्यू-इंडिया' पत्र में राजनैतिक आन्दोलन की तत्कालीन पद्धति का विरोध किया। महाराजा नाटोर का, जो सन् १६०१ में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष थे, कथन था कि वैध अन्दोलन 'राजनैतिक भिखारीपन' है। श्री आशुतोष चौधरी ने सन् १६०४ में बर्दवान में बंगाल प्रान्तीय कान्फ्रेंस के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए कहा कि 'पराधीन जाति की कोई राजनीति नहीं होती।' स्मरण रहे कि इस समय बंग-भंग की आयोजना की बात शुरू हो चुकी थी, अगले वर्ष (सन् १६०५) वह कार्य-रूप में परिणत कर दी गई। इसके अतिरिक्त पूर्वी बंगाल के नए प्रान्त के प्रथम लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर सर बेम्फील्ड फुलर ने स्पष्ट रूप से ऐसी नीति वर्ती जो मुसलमानों के प्रति पक्षपातमूलक और हिन्दुओं के लिए अपमानजनक तथा हानिकारक थी। इस पर ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन चला। कुछ आदमी यहाँ तक बढ़ना नहीं चाहते थे। क्रमशः कांग्रेस में मतभेद अधिकाधिक तीव्र होता गया। बनारस अधिवेशन (सन् १६०५) में बहिष्कार का प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त रहा। किसी तरह समझौता हो गया। अगले वर्ष श्री दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व की बदौलत काम चला, तथापि पुराने और नए नेताओं में विरोध बना रहा। नए नेताओं को गरम दल का, और पुराने नेताओं को नरम

दल का कहा जाने लगा।

सूरत का अधिवेशन—कांग्रेस के गरम और नरम दल का विवाद सन् १९०७ में स्पष्ट रूप से सामने आ गया। इस वर्ष अधिवेशन नागपुर में होनेवाला था। यहाँ की स्वागत-समिति चाहती थी कि सभापति लो० तिलक हों। नरम दल का इससे विरोध था। स्वागत-समिति की जो बैठक सभापति का निर्वाचन करने के लिए हुई, उसमें गड़बड़ हो जाने से निर्वाचन न हो सका। आखिर, अधिवेशन सूरत में करने का निश्चय हुआ। वहाँ नरम दल वालों ने सभापति-पद के लिए श्री रासविहारी घोष को चुना। प्रस्तावों के विषयों में से स्वराज्य, विदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा को निकाल दिया गया। ये प्रस्ताव पिछले (कलकत्ता) अधिवेशन में पास हो चुके थे। नरम दल अब कांग्रेस को पीछे हटा रहा था। यह राष्ट्रीय दल के लिए असह्य था। अस्तु, अधिवेशन आरम्भ तो हुआ। पर सभापति अपने भाषण का प्रारम्भिक अंश भी नहीं पढ़ पाए कि अशान्ति मच गई। अधिवेशन स्थगित हो गया।

अब कांग्रेस नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गई। लो० तिलक अगले साल गिरफ़्तार कर लिए गए। काँग्रेस में नरम दल का बोलबाला रह गया।

सन् १९०८ का कांग्रेस-विधान—सन् १९०८ में कांग्रेस कमेटी ने इलाहाबाद में बैठक करके कांग्रेस के लिए एक विधान तैयार किया, जिसकी पहली धारा इस प्रकार थी—राष्ट्रीय महासभा का उद्देश्य यह है कि "भारत की जनता भी ऐसी शासन-प्रणाली प्राप्त करे, जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य प्राप्त उपनिवेशों में है, और यह उन उपनिवेशों के साथ बराबरी के दर्जे पर अधिकारों और उत्तरदायित्वों का उपयोग कर सके। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्तमान शासन-प्रणाली में लगातार सुधार कराके तथा देश के बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक साधनों का सङ्गठन करके वैध उपायों से

प्रयत्न किया जायगा।"

मार्ले-मिन्टो सुधार और साम्प्रदायिक निर्वाचन—सन् १६०८ से नरम दल वाले ही कांग्रेस का अधिवेशन करने लगे थे। गवर्नर-जनरल लार्ड मिन्टो ने उन्हें संतुष्ट करने के लिए भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले से विचार-विनिमय किया। फल-स्वरूप सन् १६०६ में मार्ले-मिन्टो सुधार कानून बना। इसके अनुसार भारतीय व्यवस्थापक-सभा में साठ सदस्य होने लगे—३३ नामज़द और २७ निर्वाचित। प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। कुछ सदस्य प्रत्यक्ष रूप से भी निर्वाचित होने लगे; अधिकांश निर्वाचन तो अप्रत्यक्ष ही था। अब से भारत-सरकार का एक सदस्य भारतीय होने लगा।

जहाँ एक ओर व्यवस्थापक सभाओं में भारतीयों का बल बढ़ाया जा रहा था, दूसरी ओर उसे घटाने की भी योजना कर ली गई थी। स्वयं सरकार के इशारे पर मुसलमानों का डेप्यूटेशन लार्ड मिन्टो से मिला था। अन्ततः सुधारों में मुसलमानों के लिए भारतीय व्यवस्थापक सभा में, और पंजाब को (जहां मुसलमानों की आबादी अधिक थी) छोड़-कर अन्य प्रान्तों की व्यवस्थापक परिषदों में पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रथा जारी कर दी गई। इस प्रकार जातिगत निर्वाचन के रूप में भारतीय राष्ट्रीयता के लिए एक विष-वृक्ष लगा दिया गया, जो पीछे उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

इन सुधारों के बारे में स्वयं लार्ड मार्ले ने कहा था कि 'यदि यह कहा जा सकता हो कि ये सुधार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारत को पार्लिमेंटरी (प्रतिनिधिक) शासन-व्यवस्था की ओर ले जाते हैं तो कम-से-कम मैं तो इनसे कोई वास्ता नहीं रखूँगा।' तथापि हमारे नरम-दली सज्जन सरकार की इस कृपा के लिए बहुत कृतज्ञ हुए। मुसलमानों पर अधिकारियों की भेद-भाव-मूलक नीति का असर होता ही रहा। उन्होंने कांग्रेस में विशेष भाग लेना पसन्द न किया। अपने राजनैतिक

आन्दोलन की स्वतन्त्र व्यवस्था करने के लिए उन्होंने सन् १९०६ में मुस्लिम लीग नाम की संस्था की स्थापना कर ली थी।

सन् १९१५ और १९१६ के कांग्रेस-अधिवेशन—सन् १९१४ से प्रथम योरपीय महायुद्ध शुरू हुआ। आत्म-निर्णय और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। भारतवर्ष में शासन सम्बन्धी सुधारों की माँग बढ़ने लगी। क्रमशः अधिकाधिक मुसलमानों ने मुस्लिम लीग और कांग्रेस को एकही मंजिल पर पहुँचने-वाले दो साधन समझे। इस प्रकार के विचारों का फल यह हुआ कि दोनों संस्थाएँ सन् १९१५ में एक ही नगर बम्बई में अपने-अपने अधि-वेशन करती नज़र आईं। इसी समय राष्ट्रीय दल के मिलाने का प्रयत्न भी सफल हुआ। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी आदि नेताओं ने कांग्रेस का द्वार यथेष्ट खुला न होने पर भी इसमें प्रवेश करना स्वीकार किया। सन् १९१६ में कांग्रेस का संयुक्त प्रान्त (लखनऊ) का अधिवेशन खूब महत्वपूर्ण हुआ। इसमें भारतवर्ष की संयुक्त ध्वनि सुनाई पड़ी। अधिवेशन में हिन्दू और मुसलमान गरम और नरम दल सभी पक्षों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। अन्यान्य सुधार-प्रस्तावों की अपेक्षा स्वराज्य-योजना पर विशेष विचार हुआ, जो काँग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के द्वारा स्वीकृत हो जाने पर कांग्रेस-लीग-स्कीम के नाम से प्रसिद्ध हुई।

भारतवासियों की विलक्षण राजभक्ति—कांग्रेस का प्रथम तीस वर्ष का इतिहास भारतवासियों की विलक्षण राजभक्ति का सूचक है। सन् १८८५ से १९०५ तक कांग्रेस की नीति किस प्रकार प्रार्थनापत्र आदि भेजने की रही, यह पहले बताया जा चुका है। भारतवासी अँगरेजों की न्याय-प्रियता में दृढ़ विश्वास करते थे, और उनके हृदय में गहरी राजभक्ति की भावना घर किए हुए थी। यद्यपि समय-समय पर शासकों के कई कार्य लोगों को बहुत कष्टप्रद प्रतीत हुए, उनकी राजभक्ति में अन्तर नहीं आया। बंग-भंग (सन् १९०५) से

उनमें विक्षोभ पैदा हुआ, पर १६११ में बंग-भंग को रद्द करनेवाली शाही घोषणा हो जाने पर वे कृतज्ञता और प्रशंसा के भाव प्रगट करते नहीं अघाए।

श्री० अंबिकाचरण मजुमदार ने कहा, "ब्रिटिश ताज के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भावों से भरा प्रत्येक हृदय आज एक तान से धड़क रहा है। वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति कृतज्ञता और नवीन विश्वास से परिपूर्ण हो रहा है। हम ऐसे कुछ लोगों ने तो कभी—अपनी मुसीबतों के अंधकारमय दिनों में भी—ब्रिटिश न्याय की अंतिम विजय की आशा नहीं छोड़ी थी, उस पर से विश्वास नहीं उठने दिया था।" 'कांग्रेस इतिहास' में लिखा है कि पुराने जमाने में कांग्रेसी लोगों को अपनी राजभक्ति की परेड दिखाने का शौक था। सन् १६१४ में जब मदरास के गवर्नर कांग्रेस के पण्डाल में आए तो सब लोग उठ खड़े हुए और तालियों द्वारा उनका स्वागत किया। इतना ही नहीं, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने उसी समय राजभक्ति का प्रस्ताव भी उपस्थित किया। ऐसी ही घटना लखनऊ कांग्रेस के समय (सन् १६१६) में भी हुई थी, जब सर जेम्स मेस्टन कांग्रेस में आए थे।

आह! भारतवासी कितने राजभक्त और थोड़े में ही संतुष्ट होजाने वाले थे। ऐसे आदमियों को भी ब्रिटिश अधिकारी अधिक समय संतुष्ट नहीं रख सके, इससे स्पष्ट है कि उनके व्यवहार में गम्भीर और मौलिक दोष था। परन्तु उनमें से अधिकतर को वह दोष मालूम नहीं होता था, और जिन्हें मालूम होता था, उनकी बात नक्कारखाने में तूती की तरह सुनी नहीं जाती थी।

होमरूल आन्दोलन—प्रथम योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) ने पराधीन देशों के लिए आत्म-निर्णय के सिद्धान्त की घोषणा की। इससे भारतीय जनता में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए नई आशा और उत्साह का उदय हुआ। इसी समय लोकमान्य तिलक और श्री मती एनी विसेंट ने 'होमरूल-लीग' (स्वशासन-संघ) स्थापित की। देश भर में जगह-जगह

इनकी शाखाएँ फैल गईं। 'होमरूल' और 'स्वराज्य' शब्द आदमी-आदमी की जबान पर चढ़ गए। लोकमान्य का यह वाक्य अमर हो गया—*'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और मैं इसे लूंगा।'*

अगस्त सन् १९१७ में भारत-मंत्री ने ब्रिटिश पार्लिमेंट में भारतीय शासन सम्बन्धी नीति की घोषणा की। उसमें कहा गया कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत में उत्तरोत्तर स्वायत्त शासन की संस्थाओं का विकास करना है, जिससे भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना रहकर क्रमशः उत्तरदायी शासन प्राप्त कर सके।

मांट-फोर्ड रिपोर्ट—नवम्बर १९१७ में भारत-मंत्री श्री० मांटेग्यू भारत आए और अनेक सरकारी तथा गैर-सरकारी कार्यकर्ताओं से मिले। फिर उन्हों ने वायसराय चेम्सफोर्ड के साथ मिलकर भारतीय शासन-सुधारों की योजना तैयार की, जो उन दोनों के हस्ताक्षर से जुलाई १९१८ में प्रकाशित हुई। यह 'मांट-फोर्ड स्कीम' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके आधार पर सन् १९१९ का सुधार-कानून बना। उसके अनुसार भारत सरकार तो ब्रिटिश पार्लिमेंट के ही प्रति उत्तरदायी रही, हाँ उसके भारतीय सदस्यों की संख्या तीन होने लगी। भारतीय व्यवस्थापक मंडल में दो सभाएँ करदी गईं—भारतीय व्यवस्थापक सभा और राजपरिषद्। दोनों में बहुमत निर्वाचित सदस्यों का रखा गया। प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश किया गया। शासन सम्बन्धी विषय दो भागों में विभक्त किए गए—रक्षित और हस्तान्तरित। केवल हस्तान्तरित विषय (स्थानीय स्वराज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग धंधे आदि) मंत्रियों के सुपुर्द किए गए, जो प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों के प्रति उत्तरदायी बनाए गए। प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई, और उनमें निर्वाचित सदस्य अधिक रखने की व्यवस्था की गई। लगभग ७५ लाख व्यक्तियों को प्रत्यक्ष मताधिकार प्राप्त हुआ।

लिबरल पार्टी—कांग्रेस में नरम और गरम विचारों का भेद

चला ही जा रहा था, मान्टफोर्ड-रिपोर्ट ने इसे और भी बढ़ा दिया। नरम दल वालों का मत था कि रिपोर्ट में उपस्थित योजना वर्त्तमान विधान से काफ़ी आगे बढ़ी हुई है। इसलिए उसका समर्थन करके श्री मांटेग्यू की स्थिति को दृढ़ किया जाय। गरम दल वालों का मत था कि योजना को अपर्याप्त और असन्तोषजनक कह कर अस्वीकार कर दिया जाय। श्रीमती एनी विसेन्ट ने अपने 'न्यू इण्डिया' पत्र में इस विषय का जोरदार प्रचार किया कि इस योजना को पेश करना इंगलैंड के लिए लज्जाजनक है, और इसे स्वीकार करना भारत के लिए लज्जाजनक होगा। योजना पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बम्बई में, अगस्त १६१८ में हुआ। उसमें गरम दल वालों का बहुमत था। नरम दल वाले अलग रहे, उन्होंने बम्बई में ही अपनी अलग सभा की, जिसका नाम 'आल-इंडिया माडरेट कान्फ्रेन्स' रखा गया। इसके सभापति श्री सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी थे। इसमें सुधार-योजना स्वीकार की गई। दिसम्बर में यह कान्फ्रेन्स फिर की गई और उसका नाम 'आल-इंडिया लिबरल फेडरेशन' रखा गया। पीछे यही नाम बदल कर 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' हो गया। इस प्रकार नरम दल वाले कांग्रेस से अलग हो गए। इनमें अध्ययनशीलता का विशेष गुण था। कानून का मसविदा बनाने, बजट की आलोचना करने, गम्भीर विषयों के भाषण देने और लेख लिखने की कला में ये बहुत कुशल रहे हैं। परन्तु अँगरेज सरकार से स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए इनके पास असफल विधानवाद, प्रार्थनापत्र या शिष्ट-मंडल भेजने के सिवा और कोई साधन नहीं था।

विशेष वक्तव्य—कांग्रेस का लिबरलों से पृथक्करण मांट-फोर्ड योजना के आधार पर हुआ, परन्तु यदि इस आधार पर न हुआ होता तो भी इसका होना अनिवार्य था। देश में जल्दी नए युग का प्रारम्भ होने वाला था, जिसे सुभीते के लिए गांधी-युग कहा जाता है। सत्याग्रह और असहयोग की लहर आनेवाली थी। ये बातें 'लिबरल' भाइयों

के स्वभाव के विरुद्ध ही थीं; यदि वे कांग्रेस से पहले ही अलग न हुए होते तो इस नई परिस्थिति में उन्हें अलग होना पड़ता। अस्तु, कांग्रेस ने सन् १६१६ से नए युग में प्रवेश किया, उसका कायाकल्प हो हो गया। उसके आगे के कार्यों का विचार अलग ही अध्याय में करना ठीक होगा। इसलिए इस विषय को अभी यहाँ ही छोड़ा जाता है। एक बात और भी है। हम कांग्रेस की कथा के सिलसिले में सन् १६१६ तक की घटनाओं पर आगए। पर इस बीच में स्वाधीनता-आन्दोलन का एक दूसरा रूप भी सामने आने लगा था—हमारा मतलब आतंककारी आन्दोलन से है। कांग्रेस की आगे की घटनाओं का विचार करने से पूर्व हमें आन्दोलन के इस दूसरे रूप का भी विचार करना आवश्यक है।

पाँचवाँ अध्याय

आतङ्क-मार्ग (१)

स्वाधीनता के लिए तड़पनेवाले हृदयों को केवल एक ही अधिकार मिलता है—गोली की शक्ल में शीशे का टुकड़ा। मैं अपना अधिकार चाहती हूँ। अगर तुम मुझे ज़िन्दा छोड़ दोगे तो मैं जनता के सामने चिल्ला-चिल्लाकर इस बात की घोषणा करती रहूंगी कि तुम लोगों से ज़रूर बदला लिया जाय।

—लुई माइकेल

पिछले अध्याय में कांग्रेस के चौंतीस वर्ष के आन्दोलन का विचार किया गया है। यह आन्दोलन वैधानिक था—विधानवाद में विश्वास करनेवालों द्वारा सञ्चालित था। परन्तु इस बीच में, देश में जहाँ-तहाँ, परिमित क्षेत्र में ही सही, एक दूसरी विचार-धारा काम करने

लग गई थी, वह यह थी कि यदि हम सरकार से खुलकर नहीं लड़ सकते तो क्यों न आतंक-मार्ग ग्रहण किया जाय। जो सरकार ि की प्रायः उपेक्षा करती है, आतंकवाद से तो नम्र कर रहेगी।

सरकार का व्यवहार और आतङ्कवाद—भारत में आतङ्कवाद पनपने का मुख्य कारण स्वयं सरकार का घोर दमन और अत्याचार था। महारानी विक्टोरिया की घोषणा का उल्लेख पहले हो चुका है। उस घोषणा के होते हुए भी यहाँ अधिकारियों का व्यवहार ऐसा भेद-भाव-मूलक, स्वार्थपूर्ण तथा निर्दय रहा कि यहाँ खासकर साहसी और युवक हृदय स्वाधीनता के लिए छटपटाते रहे, राख में दबी हुई चिनगारियाँ अनुकूल हवा का झोंका पाकर आग की लपटों का रूप धारण करती रहीं। गुप्त सभाएँ संगठित की गईं। अस्त्र-शस्त्र और धन-संग्रह करने के लिए 'डाके' डाले गए। कहीं एक अँगरेज अफसर को मार डालने की योजना की गई, कहीं दूसरे को गोली का निशाना बनाया गया। कहीं गवर्नर आदि की रेल उलटने का प्रयत्न किया गया। अभी एक जगह क्रान्ति की आग सुलगती है, अधिकारी उसके श्रोत का पता लगाने की फिक्र में हैं कि दूसरी जगह कुछ नया कांड होने की सूचना मिलती है! इस प्रकार सन् १८५७ से १९४२ तक एक के बाद एक दूसरी घटनाओं का तांता लगा ही रहा। हाँ, बीच-बीच में, खासकर कांग्रेस की स्थापना के बाद, कभी-कभी कुछ समय के लिए वातावरण कुछ शान्त रहा।

भारतीय आतङ्कारियों का ध्येय—ध्येय के विकास की दृष्टि से भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को स्थूल रूप से निम्नलिखित समय-विभागों में बाँटा जा सकता है *—

(१) वह समय जबकि विद्रोह-भाव के सिवाय कोई विशेष विचार ही नहीं थे, सन् १८६३—१९०५

* 'राजनैतिक भारत' पुस्तक के, श्री मन्मथनाथ गुप्त के लेख के आधार पर।

(२) वह समय जब स्वाधीनता की एक धुंधली धारणा थी; १६०५-१६१४।

(३) वह समय जब स्वाधीनता की धारणा स्पष्ट हो गई और इसमें प्रजातन्त्र की भी धारणा निश्चित रूप से सम्मिलित हो गई, १६१४-१६१६।

(४) वह समय जबकि प्रजातान्त्रिक स्वाधीनता के साथ-साथ एक अस्पष्ट आर्थिक समानता क्रान्तिकारियों के मन में आदर्श के रूप में आई, १६२१-१६२८। बीच में १६१६ से १६२१, दो वर्ष तक आन्दोलन बन्द सा रहा, देश में एक दूसरा प्रयोग जारी था।

(५) उपर्युक्त बातों के अलावा इसके बाद के युग में वर्ग-बुद्धि भी आगई।

आतङ्ककारी घटनाओं के कुछ सङ्गठित क्रम पर विचार करने के लिए पहले की फुटकर बातों को छोड़कर महाराष्ट्र के गणपति तथा शिवाजी उत्सवों से आरम्भ करना ठीक होगा।

गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव—गणपति उत्सव मनाया तो पहले भी जाता था, पर उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में यह सार्वजनिक मेले के तौर पर मनाया जाने लगा। गणेश की मूर्ति के साथ पटेबाजी, कुश्ती और अखाड़ों का आयोजन होने लगा। उत्सव दस-दस दिन रहता और अन्त में गणेश की मूर्ति को अन्तिम विश्राम के लिए जल-प्रवाह कराया जाता। उत्सव के दिनों में जोशीले राजनैतिक भाषण होते और विद्यार्थी ऐसे पर्चे बाटते जिनसे जनता में शिवा जी की स्मृति जागृत हो और स्वाधीन होने की भावना प्रज्ज्वलित हो।

शिवा जी राज्याभिषेकोत्सव पहली बार जून १८६५ में मनाया गया, पीछे यह एक वार्षिक त्योहार बन गया। इन दिनों पूना के श्री दामोदर और बालकृष्ण चापेकर ने 'हिन्दू धर्म संरक्षणी सभा' स्थापित की, जिसका उद्देश्य शारीरिक तथा सैनिक शिक्षा देना था। वे शिवा जी और गणपति उत्सव के समय कैसे श्लोक गाते थे यह आगे दिए हुए

शिवा जी श्लोक के आशय से स्पष्ट हो जाता है—

"शिवा जी की कथाओं को नव्वाबों की तरह कह जाने से ही स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। आवश्यकता इस बात की है कि शीघ्र ही शिवा जी और बाजीराव की तरह मुस्तैदी और बहादुरी के कार्य किए जायँ। ए भले लोगों! समझो अब तो ढाल-तलवार लेकर खड़े हो जाओ! हम शत्रुओं के असंख्य सिर काट डालेंगे। सुनो! हम राष्ट्रीय युद्ध के रणक्षेत्र में अपने जीवन का बलिदान कर देंगे; हम उन शत्रुओं के खून से जो हमारे धर्म पर आघात करते हैं, धरती को रंग देंगे, हम मार कर ही मरेंगे, परन्तु तुम तो केवल औरतों की तरह बात सुनते ही रह जाओगे।"

श्री रैंड की हत्या और लो० तिलक पर अभियोग—

महाराष्ट्र में क्रान्ति का प्रथम प्रत्यक्ष विस्फोट सन् १८९७ में हुआ। इस समय यहाँ प्लेग फैली हुई थी। मिस्टर रैंड उसके निवारण के लिए विशेष अफसर के रूप में नियुक्त थे। उन्हें एक डाक्टर की हैसियत से अपना सेवा-कार्य करना चाहिए था, पर उनके दिमाग में, दूसरे अनेक अफसरों की तरह हकूमत की बू भरी हुई थी। उन्होंने अपने पद तथा अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए चारों ओर आतङ्क जमा दिया। इस अवसर पर लोकमान्य तिलक ने अपने प्रभावशाली 'केसरी' में लिखा था कि श्री रैंड अत्याचारी है, और सरकार अत्याचार कर रही है। भारत-सरकार से प्रार्थना करना व्यर्थ है; जो भी अत्याचार हो रहा है, सब उसकी अनुमति से हो रहा है।

११ जून १८९७ को शिवा जी का राज्याभिषेक दिवस बड़े उत्साह से मनाया गया। बड़े जोशीले भाषण हुए। उत्सव के प्रधान स्वयं लो० तिलक थे। आपने कहा—'क्या शिवा जी ने जबकि उन्होंने मुसलमानों के सेनापति अफ़ज़ल खाँ को मारा था, कोई पाप-कर्म किया था। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं महाभारत देती है। श्रीकृष्ण जी की गीता में शिक्षा है कि और तो क्या स्वयं गुरू और सम्बन्धियों को भी मारने से न चूको;

निष्काम कर्म करनेवाले अपनी बुराइयों के लिए भी दोषी नहीं होते। श्री शिवा जी ने अपना पेट भरने के लिए तो कुछ नहीं किया; दूसरों की भलाई के लिए ही उन्होंने अफ़ज़ल खाँ के खून से अपने हाथ रंगे। यदि हमारे घरों में चोर आ घुसें और हममें इतनी शक्ति न हो कि हम उन्हें मारकर भगा दें तो हमें निस्संकोच अपने घर द्वार में आग लगा कर उन्हें भस्म कर देना चाहिए। भगवान ने भारत का राज्य विदेशियों को क्या ताम्र-पत्र लिखकर सौंप दिया है।' उत्सव का समाचार १५ जून १८६७ के 'केसरी' में प्रकाशित हुआ था।

२२ जून को महारानी विक्टोरिया का साठवाँ राज्याभिषेक दिवस था। इसी रात को जब श्री० रैंड (और लेफ्टिनेंट एयर्स्ट) उत्सव से लौट रहे थे, श्री चापेकर बंधुओं ने उन पर गोली चलाकर जनता को उनके अत्याचारों से मुक्त किया; यद्यपि वे तो एक नौकरशाही के पुर्जे मात्र थे, और एक-दो पुर्जों के न रहने पर उनका स्थान दूसरे पुर्जे ले लेते हैं, और मशीन चलती रहती है।

श्री सावरकर बन्धु—श्री सावरकर बंधुओं ने युवावस्था से ही विदेशी बहिष्कार में खूब भाग लिया था। श्री गणेश दामोदर सावरकर को विप्लवी गीतों की पुस्तक छापने के लिए कालेपानी की सजा हुई। छोटे भाई नारायण दामोदर सावरकर भी लार्ड मिन्टो पर बम फेंकने के मामले में फँसाए गए। श्री० विनायक दामोदर सावरकर इंगलैंड जाने पर श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा की संगति से विप्लववादी विचारों के हो गए थे। आपके लेखों और भाषणों में अद्भुत शक्ति थी। आप फ्रांस आदि में भी रहे। सन् १९१० में लन्दन जाने पर आप रेल में ही गिरफ़्तार कर लिए गए। आपको जहाज से भारत लाया जा रहा था, तब मार्सलीज बन्दरगाह के पास आप बहुत सवेरे टट्टी गए, और बड़ी चतुराई और साहस से, पायखाने की छोटी सी खिड़की में से समुद्र में कूदकर फ्रांस की भूमि पर जा पहुँचे। फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा अँगरेजों के हवाले किए जाने पर आपको आजन्म कालेपानी की

सज़ा हुई थी। आपकी गणना पुराने क्रान्तिकारियों में है।

बंगाल—आतंककारी आन्दोलन के लिए बंग भूमि बहुत उर्वरा रही है। लार्ड कर्जन ने १९०२ में यूनिवर्सिटी-कमीशन बैठाया और १९०४ में यूनिवर्सिटी-कानून बनाया। इससे शिक्षित समुदाय में बहुत असंतोष पैदा हुआ। बंगाल में अँगरेजी शिक्षा का बहुत प्रचार था, यह नया कानून उसमें बाधा डालनेवाला था। इसलिए इस प्रान्त में इसका खूब विरोध हुआ। इसी समय लार्ड कर्जन की सरकार ने बंग-भंग का निश्चय कर भावुक जनता के हृदय पर निर्मम प्रहार किया। देश भर में स्वदेशी और बहिष्कार की धूम मच गई; बंगाल तो उसका मुख्य क्षेत्र ही था। सरकार ने सभाबन्दी, और प्रेस-नियंत्रण आदि दमन के उपायों का प्रबल प्रयोग किया, विप्लव अधिकाधिक प्रचंड रूप धारण करता गया। जगह-जगह विविध संस्थाएँ संगठित की गईं, क्रान्तिकारी तथा अन्य साहित्य प्रकाशित किया गया, युवकों के लिए क्रान्तिकारी पाठ्यक्रम बनाया गया, अनेक राष्ट्रीय स्कूल आदि खोल कर विद्यार्थियों में क्रान्ति की भावना भरने की व्यवस्था की गई।

अनुशीलन समितियाँ—क्रान्तिकारी संस्थाओं का परिचय देने के लिए यहाँ नमूने के तौर पर ढाका की अनुशीलन समिति सम्बन्धी कुछ बातें आगे दी जाती हैं। इसकी स्थापना श्री पुलिनबिहारी दास ने सन् १९०६ में, प्रकट रूप में शारीरिक और धार्मिक शिक्षा देने के लिए की थी। श्री पुलिनबिहारी ढाका नेशनल स्कूल में अध्यापक थे, और यह स्कूल इस संस्था के ट्रेनिंग केन्द्रों में मुख्य था। नवम्बर सन् १९०८ में इसकी तलाशी में श्री० पुलिनबिहारी द्वारा लिखित एक विज्ञप्ति-पत्र मिला था, उससे साफ जाहिर हो गया कि इन समितियों के संयोजकों ने इन संस्थाओं का सङ्गठन बहुत व्यापक बनाया था, और उन्हें इनकी सुव्यवस्था की बड़ी चिन्ता रहती थी।

अस्तु, सन् १९०८ के अन्त में इस संस्था को गैर-कानूनी करार दिया गया और श्री पुलिनबिहारी और अन्य कार्यकर्ताओं को काले-

पानी की सजा दी गई। इसके बाद इस संस्था ने अपना केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ते में स्थापित किया, यहाँ श्री० माखनलाल सेन ने इसका संचालन किया। ये भी राष्ट्रीय स्कूल में काम करते थे। पीछे इस संस्था की शाखा और उपशाखाएँ चारों ओर फैल गईं। इसकी उपसभाओं की संख्या कई सौ हो गईं। इसका कार्यक्रम बंगाल में ही नहीं इस प्रान्त से बाहर आसाम, बिहार, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश और पूना तक भी फैल गया। सब शाखाओं का आपस में सहयोग रखने का प्रयत्न किया जाता था।

सदस्यों को प्रतिज्ञा—इन संस्थाओं में दीक्षित होनेवाले व्यक्तियों से जो प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं, वे चार प्रकार की होती थीं—(१) आद्य अर्थात् प्रारम्भिक प्रतिज्ञा, (२) अन्तिम प्रतिज्ञा, (३) प्रथम विशेष प्रतिज्ञा, और (४) द्वितीय विशेष प्रतिज्ञा। इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार दीक्षित व्यक्तियों को उत्तरोत्तर कठोर नियमों के पालन का आदेश किया जाता था। यहाँ द्वितीय विशेष प्रतिज्ञा का रूप दिया जाता है—

ओ३म् बन्देमातरम्

(१) मैं परमेश्वर, अग्नि, माता, गुरू और नेता को साक्षी करके सौगन्ध खाता हूं कि मैं सदा इस समुदाय का कार्य समिति की उन्नति के लिए करूँगा, चाहे इसमें मेरा जीवन और सर्वस्व ही क्यों न चला जाय। मैं प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगा, और उनके विरुद्ध कार्य करूँगा जो कि समिति के विरुद्ध कार्य करते हैं, और अपनी शक्ति भर समिति के विरोधियों की क्षति करने का प्रयत्न करूँगा।

(२) मैं कसम खाता हूँ कि मैं समिति के आन्तरिक रहस्यों को कभी किसी को न बताऊँगा और उन्हें कभी अपने मित्रों या रिश्तेदारों को अनावश्यक तौर पर न बताऊँगा और स्वयं समिति के सदस्यों से भी अनावश्यक तौर पर इनके विषय में कुछ न पूछूँगा।

(३) अगर मैं इस प्रतिज्ञा को भंग करूँ या इसके विरुद्ध आचरण करूँ तो ब्राह्मणों का, माता का और प्रत्येक देश के देशभक्तों का श्राप मुझे तुरन्त नष्ट करदे।

दीक्षा संस्कार——दीक्षा संस्कार की विधि की ब्योरेवार बातों में साधारण अन्तर होते हुए भी वह बहुत-कुछ एक ही ढंग की और बहुत गम्भीर होती थी। सन् १९१४ में कमिल्ला में एक लड़के ने अपने दीक्षा संस्कार का विवरण इस प्रकार दिया— "...इस साल काली पूजा के दिन पूर्ण नामक व्यक्ति ने मुझे मेरे घर से बुलाया। उसके आदेशानुसार मैंने और नीचे लिखे व्यक्तियों ने दिन भर व्रत रखा। रात्रि के समय पूर्ण हम चारों को श्मशानघाट ले गया। वहाँ उसने काली देवी की मूर्ति मंगा कर रखी थी और उसके चरणों पर दो रिवाल्वर रखे थे। उसके आदेशानुसार हमने मूर्ति का स्पर्श किया और इस बात की प्रतिज्ञा ली कि सदा समिति के लिए वफादार बने रहेंगे। इस समय हम में से हर एक को समिति का नया नाम दिया गया।..."

क्रान्तिकारी पत्र——इस समय के क्रान्तिकारी पत्रों में अँगरेजों के प्रति घृणा पैदा करनेवाली सामग्री खूब दी जाती थी, और बताया जाता था कि विप्लव किस प्रकार किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए योगी अरविन्द के भाई वारिन्द्र घोष, और विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्तके 'युगान्तर' का १२ अगस्त १९०७ अंक लीजिए। इसमें ब्योरेवार यह लिखा गया था कि यदि पूर्ण रूप से गुप्त रीति से काम किया जाय तो इन-इन उपायों से अस्त्रशस्त्र तैयार किए जा सकते हैं, और बम बनाए जा सकते हैं। आगे कहा गया—"यदि विप्लववादी देशी सिपाहियों में गुप्त रीति से स्वतंत्रता का मंत्र फूँकदें तो बड़ा काम हो सकता है। शासकों से खुल्लमखुल्ला युद्ध करने का समय आ जाने पर यही नहीं कि केवल इतने सैनिक, सहायता के लिए मिल जायंगे, वरन् वे अस्त्र-शस्त्र भी हाथ लग जाते हैं, जिनसे शासकों ने उन्हें सुसज्जित किया था। इसके अतिरिक्त यदि अँगरेजों के दिल पर पूरी तरह दहशत

जमा दी जाय तो उनका सारा जोश और हिम्मत ठंडी पड़ जायगी।"

[सन् १९०७ में इस पत्र की ग्राहक-संख्या ७००० हो गई थी। यह सन् १९०८ में समाचार-पत्र-कानून द्वारा बन्द किया गया था।]

'युगान्तर' के अतिरिक्त, क्रान्तिकारियों के और भी कई पत्र थे। 'संध्या' स्पष्ट रूप से यह प्रचार किया करती थी—

"हमें पूरी स्वाधीनता चाहिए। देश का कल्याण उस समय तक होना असम्भव है जब तक कि फिरंगियों के आधिपत्य का सर्वनाश न हो जाय।

"हमारे लिए स्वदेशी और बहिष्कार अर्थहीन हैं, यदि उनसे हमें पूरी स्वाधीनता की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती।......उन सुधारों पर, जिन्हें फिरंगी हमें कृपा करके दान देंगे, हम थूकेंगे भी नहीं; हम तो अपनी स्वतंत्रता के विधाता स्वयं बनेंगे।"

आतंककारियों की पाठ्य पुस्तकें—आतंककारी नेताओं ने अपने दल के नए सदस्यों की शिक्षा के लिए खास-खास पुस्तकें निर्धारित की थीं—भगवद्गीता, स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ, इटली के उद्धारकर्ता मेजिनो और गेरीवाल्डी के जीवन-चरित्र। इनके अतिरिक्त तीन पुस्तकें और उल्लेखनीय हैं—(१) 'भवानी मंदिर' इसमें काली या भवानी को शक्ति का अवतार माना गया था, और बताया गया था कि भारतवासियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का संग्रह करते हुए जापानी ढंग का अनुकरण करना चाहिए। (२) 'वर्तमान रणनीति'; इसमें युवकों को युद्ध-कार्य में लगाने और उनसे शस्त्र-प्रयोग कराने की बात कही गई थी। (३) 'मुक्ति कौन पथे' या मुक्ति का मार्ग; यह अधिकांश में 'युगान्तर' के लेखों का संग्रह थी। इसमें राजनैतिक डकैतियाँ डालने, अस्त्र-शस्त्र बनाने, विदेशों में जाकर हथियार बनाना सीखने, देशी पलटनों की मदद लेने आदि की शिक्षा दी गई थी। इन पुस्तकों के अलावा क्रान्तिकारी ऐसी पुस्तकों का अध्ययन

९

किया करते थे, जिनमें बम बनाने, तलवार चलाने, अस्त्र-शस्त्र का उपयोग करने तथा रूस की क्रान्ति की जानकारी हो।

अब हम बंगाल की कुछ आतंककारी घटनाओं का हाल लिखते हैं।

श्री खुदीराम बोस और प्रफुल्लकुमार चाकी का कार्य–बंगाल में किंग्सफोर्ड नाम के अँगरेज जज ने बहुत से देशभक्त भारतीयों को सजा दी थी। आतंककारियों की ओर से उनकी हत्या करने का काम खुदीराम बोस और प्रफुल्लकुमार चाकी को सौंपा गया। ३० अप्रेल १९०८ को, इन्होंने मुज़फ्फरपुर जाकर किंग्सफोर्ड के धोखे में श्रीमती और कुमारी केनेडी की गाड़ी में बम फेंका। वे दोनों मर गईं। खुदीराम भाग कर मुजफ्फरपुर से २५ मील दूर बेनीगांव पहुँच गया, पर पीछे गिरफ्तार हो गया। मुकदमा चलने पर उसे फाँसी की सजा हुई। उसकी उम्र सिर्फ १७ साल की थी। उस वीर युवक ने गीता हाथ में लिए ११ अगस्त १९०८ को हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर कर दिए। चाकी ने गिरफ्तार होने पर आत्महत्या करली। खुदीराम बोस को पकड़ने वाला सब-इंस्पेक्टर नंदलाल बेनर्जी ९ नवम्बर १९०८ को गोली से उड़ा दिया गया।

श्रीमती और कुमारी केनेडी की हत्या की घटना का विश्लेषण करते हुए लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' के २२ जून के अंक में लिखा—"सन् १८९७ की जुबली की रात को मिस्टर रैंड की हत्या के बाद मुज़फ्फरपुर में बम फटने तक प्रजाशक्ति की ओर से कोई भी कार्य ऐसा नहीं हुआ, जिससे कि अफसरों की दृष्टि आकर्षित होती। फिर भी इन दो घटनाओं में यथेष्ट प्रभेद है। जहां तक साहस तथा कार्य को अंजाम देने का ताल्लुक है चाफेकर बन्धु बंगाल की बम-पार्टी से ऊंचे दर्जे के लोग हैं, किन्तु साधन तथा उद्देश्य की ओर देखने पर पलड़ा दूसरी ही ओर झुकता है। १८९७ की घटना समग्र रूप से एक राजनीतिक घटना ही नहीं थी, किन्तु खुदीराम का किया हुआ काम केवल एक राजनीतिक महत्व

रखता है।"

[२ अप्रेल अप्रेल १६४६ को मुजफ्फरपुर में खुदीराम स्मारक समिति के अध्यक्ष श्री व्रजबिहारी प्रसाद ने खुदीराम-स्मारक का शिलान्यास किया। स्मारक समिति ने खुदीराम बोस की एक कांसे की प्रतिमा खड़ी करने तथा स्थानीय जिला-अस्पताल में एक सर्जिकल वार्ड खोलने का निश्चय किया।]

भयानक मुकदमा—'अलीपुर षड्यन्त्र केस' विप्लवकारियों के विरुद्ध चलाए गए मुकदमों में सबसे भयानक था। श्री अरबिंद घोष, श्री वारीन्द्र घोष, श्री कन्हैयालाल दत्त आदि प्रमुख अभियुक्त थे। मुकदमे में २२२ गवाह भुगताए गए। मुखबिर बननेवाले नरेन्द्रनाथ गोस्वामी को श्री कन्हाईलाल और सत्येंद्रकुमार ने जेल ही में मार डाला। इस पर दोनों को फांसी दी गई। फांसी चढ़ने से पहले कन्हाईलाल इतने मस्त थे कि आपका वजन १६ पौंड बढ़ गया। सरकारी वकील आशुतोष को अदालत से निकलते ही गोली का निशाना बना दिया गया।

सेशन और हाईकोर्ट में मुकदमा काफी चला। हाईकोर्ट में श्री देशबन्धु दास ने १८ दिन तक बहस की। आखिर श्री अरविंद घोष बेदाग छूट गए। अन्य लोगों को शाही माफी मिलने पर छोड़ा गया।

दिल्ली दरबार और वायसराय पर बम—सन् १६११ में दिल्ली दरबार के अवसर पर शाही घोषणा द्वारा बंग-भंग रद्द किया गया। इस पर कुछ लोगों के भाषणों और लेखों में राजभक्ति के भावों की बाढ़ सी आ गई। पर सरकार की यह आशा पूरी नहीं हुई कि आतंककारी आन्दोलन ठंडा पड़ जायगा। दिसम्बर १६१२ में जब देहली में लार्ड हार्डिंग का जलूस बड़े समारोह से निकल रहा था, चांदनीचौक में उन पर बम फेंका गया, जिससे उनका अंगरक्षक मर गया।

इस सम्बन्ध में जो मुकदमा चला उसके फलस्वरूप सर्वश्री अमीर-

चन्द, अवधबिहारी तथा बालमुकुन्द को फांसी की, और बसन्तकुमार को आजन्म कालेपानी की सजा दी गई। पुलिस के अपील करने पर बसन्तकुमार को भी फांसी की सज़ा हुई।

श्री अमीरचन्द जी दिल्ली में मिशन हाई स्कूल में मास्टर थे। इनका गोद लिया हुआ लड़का सुलतानचन्द सरकारी गवाह बन गया था, और उसने अपने पिता के विरुद्ध गवाही दी थी। मास्टर साहब उसके विश्वासघात से बहुत दुखी थे। पर फांसी की सज़ा सुनकर खुश हो गए थे। श्री० अवधबिहारी मास्टर साहब के ही घर पर पकड़े गए थे। भाई बालमुकुन्द जी जोधपुर के राजकुमारों को पढ़ाने का काम करते थे। दीनानाथ पर पुलिस को सन्देह हुआ था, उसने सरकारी गवाह बन कर भाई बालमुकुन्द और बसन्तकुमार को फंसाया। इस प्रकार चार स्वाधीनता-प्रेमियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। परन्तु पुलिस असली अपराधी का पता अन्त तक नहीं लगा सकी।

['मीरां' के शहीद-अंक (सन् १९४९) में श्री फतहसिंह 'मानव' ने अपने लेख में कहा है 'मरु-मालव के श्रेष्ट पत्रकार श्री तारानाथ रावल ने बताया है कि लार्ड हार्डिंग पर बम चलाने वाले वास्तव में ठा० जोरावरसिंह और कुंवर प्रताप थे, जिन्होंने बुरका ओढ़कर बम फेंका था।' ठाकुर जोरावरसिंह राजपूताने के सुप्रसिद्ध देशभक्त कवि ठाकुर केसरीसिंह जी बारहठ के छोटे भाई और जोधपुर महारानी के कामदार थे; और, प्रतापसिंह जी थे श्री बारहठ जी के पुत्र।]

राजनैतिक डकैतियां—अलीपुर षड्यंत्र केस के कारण बंगाल में विप्लव की आग और भी प्रज्वलित हो उठी। सरकारी दमन भी साथ-साथ बढ़ा। बंगाल भर में आतंकवादी हलचल का जाल फैल गया। आक्तंककारी कार्य के लिए धन और साधन की आवश्यकता हुई, तो डकैती का मार्ग स्वीकार किया गया। रेलगाड़ियों, डाकखानों तथा सरकारी तिजोरियों पर डाका डाला गया। कई गोलीकांड और बम-काण्ड हुए। सैकड़ों युवक सन्देह में गिरफ़्तार हुए और उन्हें फाँसी

की सजा दी गईं। १६१४ की २६ अगस्त को की रोड़ा एण्ड कम्पनी की पचास पिस्तौलों और ४६,००० कारतूसों को उड़ाने की घटना बहुत महत्वपूर्ण थी। इस दिन कम्पनी के उस कलर्क ने, जो विलायत से आने वाले बन्दूक या पिस्तौल आदि की बिल्टी कस्टम के दफ़्तर से छुड़ाने का काम करता था, अस्त्रशस्त्रों के २०२ बक्सों का चालान छुड़ाया परन्तु कारखाने में केवल १६२ बक्स ही पहुँचाए। उसने गोदाम में कहा कि १० बक्स मैं वहाँ ही छोड़ आया हूँ। इन्हें लाने के बहाने से वह दोबारा गया। पर तीन दिन तक न तो वही लौटा और न बक्स ही आए। इन दस बक्सों में ५० माऊजर पिस्तौलें और ४६,००० कारतूसें थीं। पीछे पुलिस इस नतीजे पर पहुँची कि ५० में से ४४ पिस्तौलें बंगाल के नौ अलग-अलग क्रान्तिकारी दलों में तुरन्त बांट दी गईं और ४ पिस्तौलें भिन्न-भिन्न डकैती और कत्ल की घटनाओं में इस्तेमाल की गईं।

धन सम्बन्धी डकैतियों की विशेषता—आतंककारियों और साधारण डाकुओं के डाकों में यह अन्तर तो होता ही था कि आतंकवादी जो द्रव्य संग्रह करते थे, वह उनके निजी उपयोग के लिए न होकर देश के काम के वास्ते होता था। इसके अलावा आतंकवादियों के व्यवहार में और भी कई विशेषताएँ थीं, जैसा कि आगे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। २६ जून १६१६ को गोपीराम लेन, कलकत्ता, के एक मकान में डाका डाला गया, उसमें ११,५००) लूटा गया। जिस आदमी के घर में डाका पड़ा उसे बंगला भाषा में एक पत्र मिला जिस पर क्रांतिकारियों की मोहर छपी हुई थी। पत्र की तिथि १४ आषाढ़ अर्थात २८ जून थी, और इस पत्र द्वारा क्रान्तिकारियों ने मकान-मालिक को ६८६१) रु० की रसीद लिख दी थी और धन्यवाद देते हुए यह प्रतिज्ञा की थी कि यह रुपया ५) रु० सैकड़ा सूद सहित उचित समय पर लौटा दिया जायगा, और दो गहने—एक लाकेट और एक तावीज —जो रेहन रखे हुए मालूम हुए, दो सप्ताह के अन्दर ही वापिस कर

देने की सूचना दी थी।

पत्र का आगे का कुछ अँश इस प्रकार था—"सज्जनो ! यदि आप ने हमारे विरुद्ध कोई भी कार्यवाही बचन, कर्म एवं किसी अन्य रीति से की तथा किसी भी व्यक्ति को सन्देहवश पुलिस के सुपुर्द किया तो हम ऊपर लिखी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए वाध्य न होंगे, और हम आपके परिवार में से किसी भी व्यक्ति को आपकी अनन्त धन-राशि का उपभोग करने के लिए जीवित न छोड़ेंगे।

"आप जैसा बुद्धिमान आदमी कदाचित यह समझ सकता है कि देश को विदेशी राज्य से मुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे देशवासी आत्म-त्याग, उदारता का परिचय दें। यदि हमारे देश के धनी लोग हमारे भारी बोझ का खयाल करते हुए, स्वयं माहवारी, त्रैमासिक और अर्द्धवार्षिक चन्दा सहायता रूप में हमें देते ताकि हम भारतवर्ष में सनातन धर्म का राज्य पुनः स्थापित कर सकें तो हमको इस तरह से आपको कष्ट देने की आवश्यकता न पड़ती। यदि आप हमारे प्रस्ताव को स्वीकर न करेंगे तो हमें इसी प्रकार से धन एकत्रित करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।"

कलकत्ता
१४ आषाढ़
१३२३ वि०

(हस्ताक्षर) जे० बलमन्ता
संयुक्त भारत का, स्वतंत्र राज्य की
बंगाल शाखा का अर्थ-सचिव

विप्लव की लपट इंगलैंड में—विप्लव की आग भारत से इंगलैंड में भी फैली। पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह के निर्वासित किए जाने से यह आग और भी भड़क उठी। वहाँ के विप्लवी नेता थे श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल और श्री सावरकर! सन् १९०६ में अमृतसर के युवक मदनलाल धींगरा पंजाब विश्वविद्यालय से बी० ए० पास करके लन्दन गए। वहाँ सर कर्जन बाइली नियमानुसार तो भारत-मन्त्री के शरीर रक्षक थे, किन्तु वास्तव में वे भारतीय छात्रों पर खुफिया का काम करते थे। इसलिए श्री धींगरा

ने १ जुलाई १६०६ को इम्पीरियल इन्स्टीच्यूट जहाँगीर हाल की सभा में श्री वाइली का अपने पिस्तौल से खून कर दिया। श्री धींगरा को अगस्त में फाँसी दी गई, जिसका उन्होंने बन्देमातरम् के जयघोष के साथ स्वागत किया।

श्री धींगरा का महत्वपूर्ण वक्तव्य—श्री धींगरा ने अदालत में निम्नलिखित वक्तव्य दिया था—"मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने उस दिन एक अँगरेज की हत्या करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह प्रयत्न उन अमानुषिक फाँसी तथा कालेपानी की सजाओं का जो भारतीय देश-भक्तों को हो रही है, एक साधारण सा बदला है। इस कार्य में मैंने अपनी अन्तरात्मा के सिवाय और किसी की सलाह नहीं ली। मैंने किसी के साथ मिलकर षड़यन्त्र नहीं किया, केवल अपना कर्त्तव्य निभाया है।

मेरा विश्वास है कि वह जाति जिसको विदेशी संगीनों से दबा कर रखा गया है, बराबर लड़ाई की स्थिति में है। क्योंकि मुझे अस्त्रों से वंचित किया गया था, मैंने अपना पिस्तौल निकाला और अचानक हमला कर दिया।

"एक हिन्दू के नाते मेरा विश्वास है कि यदि कोई मेरी मातृभूमि का अपमान करता है तो वह ईश्वर का अपमान करता है, क्योंकि देश की पूजा रामचन्द्र जी की पूजा है और देश की सेवा श्रीकृष्ण जी की सेवा है। मेरे जैसे एक निर्धन और मूर्ख पुत्र के पास अपने माता को भेंट करने के लिए अपने रक्त के सिवाय और क्या है!

"भारत को इस समय केवल इसी शिक्षा की आवश्यकता है कि मरना सीखे और यह सिखलाने का एक मात्र ढङ्ग खुद मरना है। इसलिए मैं मरूँगा और मुझे अपने बलिदान पर गर्व है।

"यह लड़ाई जारी रहेगी, जब तक अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों में इस समय जैसा अस्वाभाविक सम्बन्ध रहेगा। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मैं इसी माता के गर्भ में फिर जन्म लूँ और इसी पवित्र कार्य के लिए फिर प्राण दूँ, जब तक कि वह मनुष्य जाति

की सेवा और ईश्वर की महिमा बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र न हो। वन्देमातरम्।"

इस वक्तव्य की विशेषता समझने के लिए पाठक ध्यान में रक्खें कि यह सन् १६०६ का जमाना था, जबकि स्वाधीनता की बात कहना खतरे से खाली नहीं समझा जाता था, जबकि कांग्रेस-आन्दोलन कुछ शासन-सुधारों को कराने तक ही परिमित था।

गदर पार्टी—सन् १६१२ में बहुत से भारतवासी धन कमाने के लिए संसार के सबसे धनी देश अमरीका गए। वहाँ उन्हें स्पष्ट मालूम हुआ कि उनके देश की पराधीनता उनके मार्ग में कितनी बाधक है; उन्हें कहीं मजदूरी करने नहीं दिया जाता, रहने के लिए जगह नहीं मिलती। अब उन्होंने भारतवर्ष को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने का निश्चय किया।

अमरीका गए हुए सिक्खों ने वहाँ ही विप्लव के लिए संगठन किया। लाला हरदयाल ने उनमें खूब प्रचार किया। भाई परमानन्द जी ने उनका साथ दिया। १० मई १६१३ को केलीफोर्नियाँ में ग़दर-पार्टी स्थापित की गई। 'गदर' नाम का पत्र भी हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, गुजराती आदि भाषाओं में प्रकाशित किया गया और विभिन्न देशों के प्रवासी भारतीयों के पास पहुँचाया गया। मार्च १६१४ में लाला हरदयाल गिरफ्तार हो गए तो भी गदर पार्टी का काम चलता रहा।

अमरीका की लहर कनाडा भी पहुँची। भारतीयों को कनाडा पहुँचने में कनाडा-सरकार द्वारा बाधाएँ उपस्थित की जाने पर 'गुरु नानक स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' खड़ी की गई और इसकी ओर से 'कोमा-गाटामारू' जापानी जहाज ठेके पर लिया। यह भारत से यात्रियों को लेकर २३ मई १६१४ में बैङ्कोवर पहुँचा किन्तु उसे दो महीने जल में ही रोककर सरकार ने वापिस लौटा दिया। इससे यात्रियों में बहुत विक्षोभ पैदा हुआ। २६ सितम्बर को यह जहाज कलकत्ते के पास बजबज घाट पर उतरा। यहाँ सरकार को पता लगा कि इसके यात्रियों में कई आतंककारी

हैं। उसने इन्हें स्पेशल गाड़ी से सीधा पंजाब भेजने का आयोजन किया। नजरबन्द होने की आशंका से यात्रियों ने स्पेशल गाड़ी पर चढ़ने से इनकार किया तो उन पर गोलियाँ चलाई गईं, जिससे १८ यात्री वहीं मर गए। इस विप्लवी घटना के सूत्रधार बाबा गुरुदत्तसिंह जी थे। आपने सात साल तक सरकार को निगाह से बचे रहकर पीछे म० गाँधी के आदेश पर आत्मसमर्पण किया।

योरपीय महायुद्ध से लाभ उठाने की योजना—प्रथम योरपीय महायुद्ध आरम्भ तो सन् १९१४ से हुआ, पर उसके लक्षण पहले से ही मालूम होने लग गए थे। अमरीका-प्रवासी भारतीयों में यह लहर उठी कि गदर पार्टी के त्यागशील सदस्य भारतवर्ष पहुँच कर अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करने का आयोजन करें। उस समय भारत लौटना कुछ आसान काम नहीं था; अमरीका से यहाँ आनेवाले गिरफ़्तार कर दिए जाते थे। फिर भी कुछ आदमी आ ही गए। श्री करतारसिंह जी ने पंजाब में दौरा कर खूब सङ्गठन किया, शस्त्र इकट्ठे किए और डाके आदि डालकर आन्दोलन के लिए धन संग्रह किया। इन्हें सर्वश्री वी० जी० पिंगले, रासबिहारी बोस और शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि का बहुमूल्य सहयोग मिला। पंजाब में इतनी तैयारी की गई कि २१ फरवरी १९१५ का दिन प्रान्तव्यापी क्रान्ति के लिए निश्चित कर दिया गया। बंगाल और संयुक्तप्रान्त के लिए भी कार्य-क्रम था। पर कुछ विश्वासघातियों के कारण अधिकारियों को इसका पता लग गया, और यह विशाल योजना अमल में आने से पहले ही बुरी तरह नष्ट कर दी गई। अनेक देशभक्तों को फाँसी या गोली से मौत के घाट उतारा गया या काले पानी भेज गया।

संयुक्तप्रान्त की 'मातृवेदी' संस्था—संयुक्तप्रान्त में इस समय 'मातृवेदी' नाम की संस्था बनाई गई थी। इसके नेता श्री गेन्दा-लाल जी दीक्षित थे; ये अध्यापक का कार्य करते हुए गुप्त रूप से युवकों

को क्रान्ति की शिक्षा दिया करते थे। इन्होंने एक 'शिवाजी समिति बनाई थी, जिसका उद्देश्य भारत माता को शिवाजी की पद्धति द्वारा विदेशियों के फन्दे से मुक्त करना था। इन्होंने पढ़े-लिखे लोगों के लिए 'मातृवेदी' संस्था खोली थी; इसका उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया गया था—

यदि देश हित मरना पड़े,
मुझको सहस्रों बार भी।
तो भी न मैं इस कष्ट को,
ध्यान में लाऊँ कभी॥

इस संस्था का नारा यह था—

भाइयो आगे बढ़ो, फोर्ट विलियम छीनलो।
कितने हैं अँगरेज सारे, उन को बीनलो।

यह संस्था विशेष पनपी नहीं। इसके सदस्यों पर ग्वालियर में गोली चलीं—कितने ही मर गए। शेष को मैनपुरी लाकर षड्यन्त्र का मामला चलाया गया। सितम्बर १६१६ में बहुतों को सज़ा हुई। इस संस्था का अन्त बहुत-कुछ विश्वासघात के कारण हुआ। इसके नेता पंडित गेंदालाल दीक्षित फरार हो गए थे। ये अन्त तक पुलिस के हाथ नहीं आए। २१ दिसम्बर १६२० को इनका देहान्त हुआ; इन्होंने अपनी पत्नी और आत्मीयों को बड़ा मार्मिक सन्देश दिया था।

जर्मनी से मिलकर भारत में विद्रोह कराने की योजना —प्रथम योरपीय महायुद्ध में जर्मनी इंगलैंड का शत्रु था, अतः हमारे कितने ही क्रान्तिकारियों ने उसकी मदद लेकर भारत में विद्रोह कराने की योजनाएँ बनाईं। यहाँ शस्त्रास्त्र मँगाने का प्रबन्ध किया गया। बंगालियों का पुलिस और फौज से संघर्ष हुआ, कहीं कहीं तो जंगलों और पहाड़ियों में खासा युद्ध सा रहा। सिंगापुर की भारतीय सेनाओं में विद्रोह की भावना भरने की चेष्टा की गई। वर्मा की ओर से भारत पर हमला करने का भी कार्यक्रम बना था। सिंगापुर में विद्रोह का

सूत्रपात हो ही गया। वहाँ सात दिन तक भारतीय सैनिकों की हुकूमत रही। अन्त में रूस और जापान की सहायता से ही इसे समाप्त किया गया। वर्मा में षड़यंत्र का मुकदमा चलाया गया।

राजा महेन्द्रप्रताप का प्रयत्न—जर्मनी की मदद से भारत को आज़ाद करने का विचार श्री राजा महेन्द्रप्रताप ने भी किया था। आपका सन् १६०६ में स्थापित किया हुआ वृन्दावन का प्रेम महाविद्यालय अपने ढँग की पुरानी और औद्योगिक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था है। प्रथम योरपीय महायुद्ध आरम्भ होने से पहले आप योरप के लिए रवाना हो गए, जिससे वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन कर सकें। स्विटजरलैंड होते हुए आप जर्मनी पहुँचे। यहाँ कैसर ने आपके साथ आदर-पूर्वक भेंट की। जर्मनी के विदेश-विभाग से आपकी लम्बी बातचीत हुई। अन्त में यह निश्चय हुआ कि राजा साहब हिन्द-जर्मनी-तुर्की-मिशन के साथ अफ़गानिस्तान जावें, और अमीर भारत पर आक्रमण करके इसे अँगरेजों से मुक्त करावें। राजा साहब तुर्की सुलतान से मिलकर २ अक्तूबर १६१५ को काबुल पहुँचे। पर अमीर ने अपनी परिस्थिति को देखते हुए अँगरेजों से युद्ध ठानना उचित नहीं समझा। फरवरी १६१८ तक राजा साहब अफगानिस्तान ठहरे रहे। योरपीय राष्ट्रों की मनोवृत्ति देखकर आपने अनुभव किया कि संसार में युद्धों का अन्त करने के लिए विश्व-संघ की बहुत आवश्यकता है। तब से आप प्रेम-धर्म और विश्वबन्धुत्व का प्रचार करने लगे।

कुछ समय बाद आपको मालूम हुआ कि अमीर अफ़गानिस्तान की हत्या कर दी गई है, उनके तीसरे बेटे अमीर अमानुल्ला खाँ गद्दी पर बैठे हैं और इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध घोषित किया गया है। इस पर आप मास्को गए, और लेनिन से भारत तथा अन्य एशियाई देशों के सम्बन्ध में खुलासा बातचीत की। १२ दिसम्बर १६१६ को आप अफगानिस्तान पहुँचे। इस समय अफगान-युद्ध समाप्त हो चुका था। अँगरेज अफ-गानिस्तान की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकार करने को मजबूर हो गए थे।

अफ़गान अब भारत पर आक्रमण कर अँगरेज़ों से दुश्मनी क्यों मोल लेते !

रौलेट रिपोर्ट—महायुद्ध के समय में सरकार ने माननीय जस्टिस रौलेट के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की, जिसका उद्देश्य था—(१) क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवाले दल तथा षड्यन्त्रों के बिस्तार का पता लगाना और (२) इन षड्यन्त्रों के दबाने में सरकार को जो दिक्कतें मालूम हों, उनका परिचय कराना और ऐसा उपाय बताना जिनसे कि षड्यन्त्र दबाए जा सकें। पुलिस-रिपोर्टों की खूब छानबीन करके इस कमेटी ने एक रिपोर्ट उपस्थित की और उसमें यह सिफारिश की कि जनता के प्रायः सब नागरिक अधिकार छीन लिए लिए जायँ। इसका महात्मा गाँधी के नेतृत्व में डटकर विरोध हुआ। सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन की उत्पत्ति हुई, इसके विषय में खुलासा सातवें अध्याय में लिखा जायगा।

दो वर्ष का विराम—सत्याग्रह-आन्दोलन का निश्चय होने पर म० गाँधी के अनुरोध से आतङ्ककारियों ने सन् १९१९ में अपना कार्य स्थगित करके अहिन्सात्मक क्रान्ति के प्रयोग का अवसर दिया। पहले बारडोली (गुजरात) में सत्याग्रह करना तय हुआ। संयोग से इसी बीच में गोरखपुर जिले के अन्तर्गत चौरीचौरा में उत्तेजित जनता हिन्सात्मक कार्यों पर उतर आई। इस पर म० गाँधी ने, अन्य नेताओं के बहुत विरोध करने पर भी, बारडोली-सत्याग्रह रोक दिया। असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में अलीबन्धु, पं० मोतीलाल नेहरू, चितरन्जन दास आदि नेता गिरफ़ार किए गए। पीछे सन् १९२२ को महात्मा गाँधी को छः साल का कारावास दिया गया। इसके बाद आतङ्ककारियों ने अपना आन्दोलन फिर जारी कर दिया। इस प्रकार इस आन्दोलन का दो वर्ष विराम रहा। हो गया। आगे की मुख्य-मुख्य बातों का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

———

छठा अध्याय

आतङ्क-मार्ग (२)

शहीदों की चिताओं पर, लगेंगे हर बरस मेले ।
वतन पर मरनेवालों का, यही बाकी निशां होगा ॥

दो वर्ष के विराम के बाद—पहले बताया जा चुका है कि सन् १९१९ से १९२१ तक दो वर्ष आतङ्ककारी आन्दोलन म० गाँधी के अनुरोध से बन्द रहा। सन् १९२२ में आपकी गिरफ्तारी के बाद यह फिर जारी कर दिया गया। अब फिर वही सरकारी अधिकारियों को गोली का निशाना बनाने, गुप्त रूप से योजनाएँ बनाने, और राजनैतिक डाके डालने का क्रम बन गया। वायसराय या गवर्नरों की स्पेशल ट्रेनों को उलटने की कोशिशें की गईं। सरकारी शास्त्रागारों से हथियार चुराने या लूट लाने के भी काम हुए। इसके जवाब में सरकार द्वारा जगह-जगह तलाशी ली गई, षड्यन्त्र के मामले चलाए गए, औरसंदिग्ध या प्रमाणित क्रान्तिकारियों को तरह-तरह का कठोर दंड दिया गया।

काकोरी कांड – आतंककारी घटनाएँ तो अनेक और देशव्यापी हैं। पर हमें तो आन्दोलन की रूप-रेखा दिखाने के लिए उदाहरण-स्वरूप कुछ थोड़ी सी बातों का उल्लेख करना है। पहले 'काकोरी-कांड' नाम से प्रसिद्ध घटना ली जाती है। संयुक्तप्रान्त में आतंककारियों ने 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य सशस्त्र संगठित क्रान्ति द्वारा भारत में प्रजातांत्रिक संघ शासन की स्थापना करना था। जनवरी १९२५ में एक पर्चा बांटा गया। ६

अगस्त की बात है; संध्या के आठ बजे रेलगाड़ी हरदोई से लखनऊ जा रही थी। एकाएक काकोरी के पास गाड़ी खड़ी हो गई। कुछ लोगों ने पुकार कर यात्रियों से कह दिया, हम सिर्फ सरकारी खजाना लूटने के लिए आए हैं। गार्ड से चाबी लेकर खजाना बाहर निकाला गया। पौन घंटे लूट होती रही। अन्त में लगभग दस हजार रुपए लेकर ये लोग चल दिए।

सितम्बर १६२५ में काकोरी-कांड के सिलसिले में सब शहरों में क्रान्तिकारियों की गिरफ़्तारी हुई। मुकदमा लखनऊ में १६ महीने चला। अभियुक्तों की पैरवी करने और मुकदमे को ढंग से लड़ने के लिए एक कमेठी बनी, जिसके सभापति पहले पं० मोतीलाल नेहरू और फिर पं० जवाहरलाल नेहरू रहे। अभियुक्तों के वकीलों में संयुक्तप्रान्त के वर्तमान प्रधान मंत्री श्री० गोविन्दवल्लभ पन्त, रसद-मंत्री श्री० चन्द्रभानुगुप्त और श्री मोहनलाल सकसेना आदि रहे। दो एक अभियुक्तों ने सरकार की तरफ मिलकर अपने साथियों के विरुद्ध गवाही दी। आखिर, चार आदमियों—सर्वश्री रामप्रसाद 'बिस्मिल', रोशनसिंह, अशफाकुल्ला और राजेन्द्र लाहिड़ी—को फाँसी और दूसरे को अन्य विविध सजाएँ दी गईं।

श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल'—फाँसी पानेवाले सज्जनों के जीवन की आगे लिखी घटनाओं से, उनके विचारों और कार्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। श्री० 'बिस्मिल' जी का क्रान्तिकारी जीवन १८ वर्ष की उम्र से ही शुरू हो गया था। 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' में आप फरार हुए। सरकार ने आपको गिरफ़्तार करने का खूब प्रयत्न किया, पारितोषिक की भी घोषणा की, पर आप पकड़े नहीं जा सके। शाही घोषणा के बाद आप घर लौटे, और फिर अपने दल का संगठन में लग गए। काकोरी-कांड के अभियोग में, १६ दिसम्बर १६२७ का दिन आपको फाँसी देने के लिए निर्धारित किया। इस अवसर पर आपने सच्चे वेदान्ती होने का प्रत्यक्ष परिचय दिया। फाँसी के तख्ते की ओर जाते

हुए आपने जो दो पद्य कहे, उनमें कितना भाव है—

मालिक तेरी रजा रहे
और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं
न मेरी आरजू रहे॥
जब तक कि तन में जान
रगों में लहू रहे।
तेरा ही जिक्र या कि
तेरी जुस्तजू रहे॥

आपने यह भी कहा कि 'मैं अँगरेजी साम्राज्यशाही का नाश चाहता हूँ। आपकी ये पंक्तियाँ बहुत-से पाठकों को याद रहेंगी—

अब न अगले बलबले हैं, और न अरमानों की भीड़।
एक मिट जाने की हसरत, बस दिले 'बिस्मिल' में है॥
दिल फिदा करते हैं, कुरबान जिगर करते हैं।
पास जो कुछ है वह माता की नजर करते हैं॥
खाना वीरान कहाँ देखिए घर करते हैं।
खुश रहो अहलेवतन हम तो सफर करते हैं॥
जा के आबाद करेंगे किसी वीराने को॥ १॥
देश-सेवा ही का बहता है लहू नस-नस में।
अब तो खा बैठे हैं चित्तौड़ के गढ़ की कसमें॥
सरफरोशी की अदा होती है यों ही रस्में।
भाई खंजर से गले मिलते हैं सब आपस में॥
बहनें तैयार चिताओं पे हैं जल जाने को॥ २॥

श्री० रोशनसिंह—श्री० रोशनसिंह ने असहयोग आन्दोलन के समय शाहजहाँपुर और बरेली जिलों के गांवों में घूम कर जनता को स्वराज्य का संदेश सुनाया। श्री 'बिस्मिल' जी से मिलने से पहले आपको दो साल का कठोर कारावास का दंड मिल चुका था। कारावास से

छूटने पर आप आतंककारी दल में सम्मिलित हो गए। काकोरी-कांड में आपको फाँसी मिलने का किसी को विश्वास नहीं था। तथापि सजा सुन कर इन्होंने आश्चर्यजनक धैर्य का परिचय दिया। १२ दिसम्बर को अपने-अपने एक मित्र को पत्र में लिखा था—

"इस सप्ताह के भीतर ही फाँसी होगी। दुनिया में पैदा होकर मरना ज़रूर है। बद-फ़ेल करके मनुष्य अपने को बदनाम न करे। इसलिए मेरी मौत किसी प्रकार अफ़सोस के लायक नहीं है। दो साल से मैं बच्चों से अलग हूँ। इस बीच ईश्वर के भजन का खूब मौका मिला। इससे मेरा मोह छूट गया और कोई वासना बाकी न रही।"

आपकी ये पंक्तियाँ कितनी शिक्षाप्रद हैं—

"जिन्दगी जिन्दादिली को तू जान ऐ रोशन।
यों तो कितने ही हुए और फ़ना होते हैं॥"

श्री अशफाकउल्ला—अशफाकउल्ला खां सम्भवतः पहले मुसलमान हैं, जिन्हें षड्यंत्र के मामले में फाँसी हुई। आपका हृदय उदार था, और आपका व्यवहार समानता-सूचक। आपकी कविताएँ स्वदेशानुराग से भरी हैं। आप हिन्दू-मुसलिए एकता के बड़े समर्थक थे। श्री० 'बिस्मिल'जी से आपका भाई का सा प्यार था। आप काकोरी केस में केवल इसलिए फरार हुए थे कि आपको कामकरने का शौक था। काकोरी केस के समय मुसलमान पुलिस-सुपरिंटैंडैंट खां बहादुर ने आपसे सहानुभूति दिखाते हुए कहा था कि 'रामप्रसाद आदि तो हिन्दू हैं, उनका उद्देश्य हिन्दू राज्य कायम करना है, आप इन काफिरों के फन्दे में क्यों आ गए।' इस पर आपने उसे मुंह-तोड़ जवाब दिया—'पंडित जो सच्चे हिन्दुस्तानी हैं, उन्हें हिन्दू राज्य या किसी भी फिरकेवाराना सल्तनत से नफरत है; फिर, मैं तो अँगरेजों के राज्य से हिन्दू राज्य ज्यादा पसन्द करूँगा। आपने जो उनको काफिर बतलाया उसके लिए मैं आपको इस शर्त पर माफी देता हूँ कि आप इसी समय मेरे सामने से चले जायँ।' आपको फाँसी फैजाबाद जेल हुई थी। आप बहुत हंसी खुशी के

साथ कुरान शरीफ का बस्ता कंधे पर टांगे, हाजियों की तरह 'लकब' कहते और कलमा पढ़ते फाँसी के तख्ते के पास गए और खुदा का नाम लेकर यह कविता कहते हुए इस संसार से विदा हो गए—

कुछ आरजू नहीं है,
है आरजू तो यह है।
रखदे कोई जरा सी,
खाके वतन कफ़न में ॥

आप अक्सर यह गीत गाया करते थे; इसके भावों को आपने वास्तव में अपने जीवन में उतार दिखाया—

बुजदिलों को ही सदा मौत से डरते देखा,
गो कि सौ बार उन्हें रोज ही मरते देखा।
मौत से वीर को हमने नही डरते देखा,
तख्तए मौत पे भी खेल ही करते देखा।
मौत इक बार जब आना है तो डरना क्या है,
हम सदा खेल ही समझा किए, मरना क्या है।
वतन हमेशा रहे शाद काम और आजाद,
हमारा क्या है अगर हम रहे रहे न रहे।

श्री राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी—श्री० राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को काकोरी केस में सजा से पाने से पहले एक दूसरे मामले में कालेपानी की सजा हो चुकी थी। अब फाँसी की सजा सुनने पर भी आप निर्विकार रहे। आपने एक मित्र को पत्र लिखते समय कैसी निर्भयता और गम्भीरता प्रकट की—

"कल मैंने सुना कि प्रिवी कौंसिल ने मेरी अपील खारिज करदी। आपने हम लोगों की प्राण-रक्षा के लिए बहुत-कुछ किया। किन्तु यह मालूम होता है कि देश की बलिवेदी पर हमारे प्राणों के चढ़ने की आवश्यकता है। मृत्यु क्या है? जीवन की दूसरी दिशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसलिए मृत्यु से भय क्य? यह तो उतनी ही स्वाभाविक

११

है, जितना कि सूर्य का उदय होना। यदि यह सच है कि इतिहास पलटा खाया करता है तो मैं समझता हूँ कि मौत व्यर्थ नहीं जायगी। सबको मेरा नमस्कार; अन्तिम नमस्कार।" आपकी हार्दिक भावना का कुछ आभास इन पंक्तियों में मिल जाता है—

सूख न जाए कहीं पौधा यह आजादी का।
खून से अपने इसलिए तर करते हैं॥

सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी—पंजाब की "नौजवानभारत सभा" तथा संयुक्त प्रान्त की "सोसलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन" का एकीकरण हो कर "हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" बनी। इसका केन्द्र झाँसी में था। इसके दो प्रमुख नेता थे—सरदार भगतसिंह तथा श्री चन्द्रशेखर 'आजाद'। इस दल ने रोमांचकारी विप्लवी कार्य किये और अफसरों में आतंक फैला दिया। १६२६ में, दिल्ली में केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंक कर अमर शहीद भगतसिंह और वटुकेश्वरदत्त ने जब आत्म-समर्पण किया, तभी इस दल के प्रथम दो सदस्य पुलिस के हाथ लगे। इस के बाद सरकार की ओर से भयंकर दमन-चक्र जारी हुआ।

लाहौर षड्यंत्र और सरदार भगतसिंह—साइमन कमीशन का वहिष्कार पंजाब में २० अक्तूबर १६२८ को लाला लाजपतराय जी के नेतृत्व में हुआ। पुलिस ने लाठी-वर्षा की। लाला जी को चोट आई और मार्मिक वेदना हुई। १७ नवम्बर को आप का देहान्त हो गया। नौकरशाही से इसका बदला लेने के लिए चन्द्रशेखर 'आजाद', सरदार भगत सिंह, शिवराम, राजगुरू और जयगोपाल ने एक जिम्मेदार पुलिस-अफसर मि० सेंडर्स को मार डाला। भगतसिंह फरार रहे। पीछे इन्होंने तथा श्री वटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली में बम फेंका जबकि वहाँ पब्लिक सेफटी बिल (सार्वजनिक सुरक्षा प्रस्ताव) पर मत लिया जानेवाला था। बम फेंक कर ये दोनों सज्जन कहीं भागे नहीं, वहीं खड़े

'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद का नाश हो' आदि नारे लगाते रहे। देश में 'इनकलाब जिन्दाबाद'—नारे का प्रचार करने करनेवाले श्री भगतसिंह ही हैं।

मुकदमा चलने पर दोनों सज्जनों ने कहा—'*क्रान्तिकारी दल का उद्देश्य देश में मजदूरों तथा किसानों का समाजवादी राज्य स्थापित करना है। यह जनता की भलाई के लिए लड़ रहा है।*' यह पहला ही अवसर था कि किसी क्रान्तिकारी ने अदालत में ऐसा बयान दिया।

सेंडर्स की हत्या में भाग लेनेवाले अन्य सज्जन पीछे गिरफ़ार हुए। यह मामला 'लाहौर षड्यंत्र के' नाम से प्रसिद्ध है। श्री भगतसिंह, राजगुरू तथा सुखदेव की फाँसी हुई और अन्य अभियुक्तों को कालेपानी से लेकर तीन वर्ष तक की सजाएँ हुईं।

खास कर सरदार भगतसिंह की फाँसी की सजा के समाचार पर देश भर में रोष प्रकट किया गया। जगह-जगह हड़तालें हुईं। कांग्रेस और म० गांधी ने भी इन्हें दण्ड-मुक्त कराने का प्रयत्न किया। परन्तु नौकरशाही ने एक न सुनी। साधारण नियम सवेरे के समय फाँसी देने का है। पर सरकार ने जनता के क्षोभ और प्रदर्शन से बचने के लिए उपर्युक्त तीन सज्जनों को शाम को ही (२३ मार्च १९३१) फांसी देदी। इनकी लाशें इनके रिश्तेदारों को नहीं दी गईं। इनको मिट्टी का तेल डाल कर झटपट जला दिया और इनके फूल चुपचाप सतलुज में डलवादिए। आह! जनता की अपने नेताओं के प्रति आदर-भावना का कैसा क्रूर उपहास!

यह ध्यान देने की बात है कि महीनों मौत के मुँह में रहने पर भी सरदार भगतसिंह का मस्तिष्क राजनैतिक तथा अन्य विषयों में यथेष्ट काम करता रहा। २ फ़रवरी को आपने एक मित्र को गुप्त पत्र भेजा था, उसका निम्नलिखित अँश देखिए—

"राजनैतिक संग्रामों का समझौता एक आवश्यक अंग है। कोई भी कौम, जो किसी अत्याचारी शासन के विरुद्ध खड़ी होती है, यह ज़रूरी

है कि वह प्रारम्भ में असफल हो, और अपनी लम्बी जद्दोजहद के मध्य-काल में इस प्रकार के समझौतों के ज़रिए कुछ राजनैतिक सुधार हासिल करती जाय; परन्तु वह अपनी लड़ाई की आखिरी मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते अपनी ताकतों को इतना संगठित और दृढ़ कर लेती है, कि उसका दुश्मन पर आखिरी हमला ऐसा जोरदार होता है कि शासक लोगों की ताकतें उस वार के सामने चकनाचूर होकर गिर पड़ती हैं। ऐसा भी हो सकता है कि उस कौम की चाल थोड़े समय के लिए धीमी हो तथा उसके नेता पीछे पड़ जायँ। किन्तु जनता की बढ़ती हुई ताकत समझौतों को ठुकराकर उस आन्दोलन को अन्त तक विजयी करा ही देती है। नेता पीछे ही रह जाते हैं, आन्दोलन आगे बढ़ जाता है। यही विश्व-इतिहास का सबक है।"

श्री यतीन्द्रनाथ दास—लाहौर षड्यन्त्र के मुकदमे में श्री यतीन्द्र-नाथ दास भी गिरफ़्तार हुए थे। आप राष्ट्रीय आन्दोलन में पहले कई बार जेल जा चुके थे, और वहाँ अनशन कर चुके थे। इस बार आप लाहौर भेजे गए। राजबन्दियों से जेलों में जो दुर्व्यवहार होता था, वह आपको सहन न हुआ। आपने उनके कष्टों को दूर करने के लिए तथा उनके वास्ते सम्मानपूर्ण व्यवहार की माँग करते हुए अनशन आरम्भ कर दिया। जेल-अधिकारियों ने आपका अनशन भंग कराने के लिए तरह-तरह के अत्याचार किए, पर आप अटल रहे। अन्त में दो-चार दिन नहीं, पूरे ६३ दिन तक अनशन करके आपने अपने शरीर को तिल-तिल घुलाकर मातृवेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर दिए। इसके बाद ही कैदियों की ए. बी. और सी. श्रेणियाँ बनने लगीं, और ए. और बी. श्रेणी वालों से विशेष व्यवहार किया जाने लगा। स्मरण रहे कि श्री यतीन्द्रनाथ कुछ और ही चाहते थे; उनकी माँग थी कि राजनैतिक कैदियों से सम्मान-पूर्ण व्यवहार किया जाया करे।

श्री चन्द्रशेखर 'आज़ाद'—काकोरी और लाहौर कांड में श्री चन्द्रशेखर का जिक्र आया है। ये असहयोग आन्दोलन में जेल के मेहमान

बने थे। वहाँ पूछे जानेपर इन्होंने अपना नाम 'आजाद', पिता का नाम 'स्वाधीन', और घर 'जेलखाना' बताया था। उसी समय से ये 'आजाद' कहे जाने लगे। इनकी यह विशेषता रही कि एक के बाद दूसरा आतङ्क-कारी कार्य करते हुए भी ये पुलिस की पकड़ में नहीं आए।

श्री 'आजाद' अपने फरार जीवन में अजमेर भी काफी रहे थे। यहाँ इन्होंने क्रान्तिकारियों का खूब संगठन किया। उस समय राजस्थान में राष्ट्रीयता के जन्मदाता श्री अर्जुनलाल सेठी का घर इन लोगों का निवास-स्थान बना रहता था। अजमेर से आजाद इलाहाबाद चले गए थे।

इलाहाबाद में २० फरवरी १९३१ की जो महत्वपूर्ण घटना हुई, वह यहाँ वालों को चिरकाल तक याद रहेगी। यहाँ एलफ्रेड पार्क में, पुलिस ने 'आजाद' को अचानक घेर लिया। 'आजाद' की जाँघ में पुलिस-सुपरिंटैंडैन्ट की गोली लगी, तो भी आपने सुपरिंटैंडैन्ट की कलाई पर गोली का ऐसा निशाना बैठाया कि उसके हाथ से रिवाल्वर छूट गया, और उसे पेड़ की आड़ में छुपना पड़ा। 'आजाद' ने चाहा कि पेड़ को छेदकर सुपरिंटैंडैन्ट को समाप्त कर दूँ। पर इसी समय आप वीरगति को प्राप्त हो गए।

[सन् १९४९ में भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरूजी ने आप की माता को २५०) की सहायता दी, और उन्हें २५) मासिक की आजीवन पेंशन दी जाने लगी।]

शस्त्रागार की लूट—महात्मा गाँधी के सत्याग्रह-आन्दोलन के बावजूद १९३० में और उसके बाद भी विप्लव की कार्रवाइयाँ जारी जारी रहीं। इसमें सबसे विस्तृत और भीषण काँड चटगाँव में शस्त्रागार की लूट का था। यह अप्रेल १९३० को हुआ और इसमें ५१ युवकों ने भाग लिया। फौज और पुलिस के दोनों शास्त्रागार लूटे गए। गुरखा फौज की मदद से काफी देर की लड़ाई के बाद विप्लवियों पर काबू पाया जा सका। इसमें ५० सैनिक मारे गए। १९ आक्रमणकारी युवक मैदान में काम आए।

दमन और आतंकवाद——सन् १६३२ में सविनय अवज्ञा के रूप में सत्याग्रह का जोर होने के समय आतंककारी घटनाएँ विशेष नहीं हुईं। पीछे फिर बढ़ चलीं। सरकार ने भी दमन में कोई कोर-कसर नहीं रखी। आतंकवाद और उसका जवाब अधिक दमन—यह दुष्चक्र चलता ही रहा। सरकार भूल गई कि आतंकवाद दमन से नहीं मिट सकता। यदि सरकार वास्तव में आतंकवादियों के कार्य बंद करना चाहती थी तो उसे अपना क्रूर दमन बन्द करके लोकमत के अनुसार कुछ ठोस शासन-सुधार करना चाहिए था। परन्तु लोभी और साम्राज्य-वादी सरकार ऐसा करने में असमर्थ ही हुआ करती है।

अहिन्सा की विजय—सन् १६३५ के शासन-सुधारों के अनुसार सन् १६३७ में जो चुनाव हुए, उनमें कांग्रेस का प्रचंड बहुमत रहा। ग्यारह प्रान्तों में से आठ में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का संगठन हुआ। राजबन्दियों को, जिनमें क्रान्तिकारी भी थे, छोड़ने में बाधा उपस्थित होने पर संयुक्तप्रान्त तथा बिहार के प्रधान मंत्रियों ने इस्तीफा दे दिया। अन्त में अँगरेज सरकार को झुकना पड़ा और राजबन्दी बिना शर्त रिहा किए गए।

इन्हीं दिनों अंडमान टापू (कालेपानी) में रखे गए राजबन्दियों की शिकायतें बहुत बढ़ गईं थीं। उन्होंने भारत-सरकार के पास एक आवेदन पत्र भेजा। लगभग २२५ राजबन्दियों ने अनशन किया। देश भर में इनके साथ सहानुभूति प्रकट की गई। म० गांधी ने उनके साथ तथा वायसराय के साथ तार-व्यवहार किया। आपके अनुरोध पर राजबन्दियों ने अनशन छोड़ दिया। उन्होंने महात्मा जी को यह भी लिखा—

"हम आपको और आपके द्वारा समस्त राष्ट्र को यह सूचित करने में सम्मान अनुभव करते हैं कि हम में से जिनका भी आतंकवाद में विश्वास था, वे अब उस विश्वास के नहीं रहे। अब वे राजनैतिक अस्त्र अथवा उद्देश्य के रूप में उस के व्यर्थ सिद्ध होने में विश्वास करने लगे हैं। हम इस बात की घोषणा करते हैं कि आतंकवाद देश के कार्य

में सहायता न देकर उसमें बाधा पहुँचाने वाला है।" यह स्पष्ट रूप से हिन्सा पर अहिन्सा की विजय थी। जो क्रान्तिकारी, सरकार के घोर दमन के आगे भी नहीं नवे थे, उन्होंने महात्मा जी के प्रेम के आगे आत्म-समर्पण कर दिया। अब कांग्रेस-सरकारों ने अंडमान से सब राजबन्दियों को बुला लिया।

बंगाल का प्रश्न जटिल था। यहाँ अप्रेल १९३७ में राजवन्दी और नजरबन्द तीन हजार से ऊपर थे। चटगांव में २१,३८२ व्यक्तियों पर परिचय-पत्र रखने का प्रतिबन्ध था। महात्मा जी के लगातार प्रयत्नों के फल-स्वरूप अगस्त १९३९ तक अधिकांश को छोड़ दिया गया, और शेष के मामलों पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई।

इस प्रकार सन् १९३७-३९ में आतंककारी आन्दोलन का वेग कम होते-होते यह एक प्रकार से समाप्त हो गया। क्रान्तिकारों ने समझ लिया कि अब आतंकवाद लाभकारी न होगा; अब तो जन-आन्दोलन की आवश्यकता है। निदान, उनमें से कुछ फार्वर्ड ब्लाक या अग्रगामी दल में आगए, और कुछ कांग्रेस-समाजवादी आदि अन्य दलों में मिल गए।

आतंक-आन्दोलन के सम्बन्ध में और भी अनेक उल्लेखनीय बातें हैं। कितने ही अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इसमें महत्वपूर्ण भाग लिया है। पर हमने तो कुछ नमूने की बातें कह कर इस आन्दोलन का आभास मात्र देने का प्रयत्न किया है। हाँ, आजन्म विप्लवी श्री रास-बिहारी बोस के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाना आवश्यक है।

श्री० रासबिहारी बोस—लार्ड हार्डिंग पर बम फिंकवाने का का काम श्री रासबिहारी बोस ने किया—ऐसा विचार उस घटना के समय भी किया जाता था। पीछे बम-कांड के मुकदमे के सिलसिले में जो गवाहियाँ या तलाशियाँ हुई उनसे इस बात की और भी पुष्टि हो गई। श्री० बोस उस समय से अपने देहान्त (सन् १९४५) तक भारतीय

स्वाधीनता का प्रयत्न करते रहे। आपकी गिरफ़्तारी के लिए सरकार ने पूरी कोशिश की, पुलिस की दौड़-धूप के अलावा बड़े-बड़े इनामों की भी घोषणा हुई, परन्तु आपने सरकारी गुप्तचरों की आंखों में धूल डालते हुए कई वर्ष तक तो भारत में ही काम किया। सन् १६१४ में आप बनारस पहुँचे और वहाँ क्रान्तिकारियों का संगठन करते रहे। आप पंजाब के भी विविध स्थानों में गुप्त रूप से रहे।

२१ फरवरी १६१५ को भारत-व्यापी क्रान्ति करने का जो आयोजन किया गया था, उसकी असफलता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके बाद श्री० रासबिहारी कलकत्ते पहुँच गए। कवि-सम्राट् रवीन्द्र-नाथ ठाकुर इस समय जापान-सरकार से निमंत्रित होकर जापान जाने वाले थे, श्री रासबिहारी ने भी किसी तरह उनके साथ ही जापान पहुँचने की व्यवस्था करली। वहाँ आप भारतीय स्वाधीनता का प्रयत्न करते रहे। सन् १६४२ से आपने आजाद-हिन्द संगठन में योग दिया, उसका वर्णन आगे किया जायगा।

आतंककारी आन्दोलन का परिणाम--आत्म-त्याग करने वाले आतंकवादी शहीद कभी यह हिसाब लगाने नहीं बैठते कि उनके बलिदान का दूसरों की दृष्टि में कितना मूल्य होगा। वे तो निष्काम भाव से अपना कर्तव्य पालन करते हैं। अस्तु, सरकार यह कहा करती है कि उस पर आतंककारी घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं होता, उसके पास आतंककारियों का दमन करने के लिए यथेष्ट साधन हैं। पर जाननेवाले जानते हैं कि सरकार के कथन में अहंकार अधिक और सत्य कम होता है। इसी प्रकार कुछ आतंकवादी भारत सरकार द्वारा समय-समय पर किए जाने वाले सब शासन-सुधारों का श्रेय आतंकवाद को ही देते हैं, और दावा करते हैं कि यदि सार्वजनिक नेता और पीछे खासकर म० गांधी या गांधीवादी हमारा विरोध न करते और हमारे कार्य में बाधक न होते तो आतंकवाद जल्दी तथा और भी अधिक परिमाण में सफल होता। हम इससे सहमत होने में असमर्थ हैं,

तथापि हमारी मान्यता है कि सरकार की नीति और कार्य आतंकवाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, और भारत-सरकार भी इस विषय में कोई अपवाद नहीं रही। इसके अलावा जब कोई आतंककारी जेल या कालेपानी में तरह-तरह के कष्ट भोगता है, या मृत्यु-दंड पाता है तो आदमी उसका समाचार सुनकर उनके प्रति सहानुभूति रखने लगते हैं। उनके मन में भी लोक-सेवा और देश-भक्ति की भावना ऐसी बढ़ती है, जो साधारणतया लेखों को पढ़ने या भाषणों को सुनने से सम्भव नहीं होती। निदान, हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि भारतीय राजनीति में आतंकवाद का एक विशेष स्थान रहा है।

आतङ्कवाद की सीमाएँ—यह तो स्पष्ट ही है कि आतङ्क-कारियों में देशभक्ति की उत्कट भावना होती है। अपने देश की आजादी के लिए उनमें कितना त्याग, कितना अनुराग और कितना उत्साह होता है, इसका कुछ परिचय इस बात से मिलता है कि कितने ही आतङ्ककारियों को जब प्राण-दंड मिला तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। यहाँ तक कि उनका वज़न बढ़ गया। आतंककारी अपनी जान हथेली पर लिए फिरते हैं, और साहसपूर्वक आश्चर्यजनक कार्य कर डालते हैं। तथापि उनके कार्यों की सीमा रहती है। उनके कार्य गुपचुप होते हैं। उन्हें जनता का यथेष्ट समर्थन नहीं मिलता। उन्हें आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए डाके आदि डालने पड़ते हैं। इससे वे अनेक आदमियों की सहानुभूति से वंचित हो जाते हैं। अगर वे दो-चार अत्याचारी अधिकारियों को मार भी डालें तो इससे शासन-यंत्र नहीं सुधरता, कभी-कभी तो खुफिया पुलिस और दमन की ओर भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार खासकर आधुनिक व्यवस्थित और सुसंगठित सरकार का विरोध करने में आतङ्कवाद की सीमाएँ स्पष्ट हैं।

आतंकवाद से आशंका—आतङ्कवाद के सम्बन्ध में बड़ी आशंका यह रहती है, कि पीछे जनता को इसका दुष्परिणाम न भुगतना पड़े। आरम्भ में जो आदमी आतङ्ककारी आन्दोलन का नेतृत्व करते हैं,

उनमें प्रायः स्वार्थत्याग और संयम उच्च कोटि का रहता है, परन्तु जब उनका दल बढ़ जाता है और शक्तिवान होकर अत्याचारी सरकार को परास्त कर देता है तो उसके सब आदमियों के अनुशासन में रहने और लोक-सेवी होने की आशा नहीं की जा सकती। अकसर वे विजय के मद में अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं, और धन और पदों के पीछे दौड़ने लगते हैं। इस प्रकार वे जनता के रक्षक न होकर भक्षक बन जाते हैं। जन साधारण के कन्धों से एक भार उतरता है तो दूसरा आ जाता है।

विशेष वक्तव्य—भारतवर्ष में आतङ्कवाद खासकर सन् १८६३ से १६३७ तक रहा। यों विप्लवकारी भावना तो पीछे भी बनी रही, इसका प्रत्यक्ष परिचय हमें सन् १६४२ की जनक्रान्ति में मिला। उसका वर्णन आगे किया गायगा। पहले हमें कांग्रेस के सन् १६१६ के बाद के आन्दोलन का विचार करना है जो चौथे अध्याय में बाकी रह गया था।

सातवाँ अध्याय

कांग्रेस-आन्दोलन (२)

[सन् १६१६ से १६४२ तक]

पूर्ण स्वराज्य के विचार का विकास ही भारतीय राष्ट्रीय महसभा का इतिहास है।

—ज० व० कृपलाणी

म० गांधी ने भारत के विद्रोह को एक गति नहीं, प्राण नहीं, वरन् आत्मा दे दी; आत्मा, जिसके लिए कहा गया है—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।'

—धर्मवीर भारती

हमने चौथे अध्याय में कांग्रेस की कुछ बात कही थी। बीच में आतंककारी आन्दोलन की बात आ गई। अब कांग्रेस की आगे की कथा

ली जाती है। सत्याग्रह आन्दोलन से इसका नया अध्याय आरम्भ होता है।

सत्याग्रह का सूत्रपात—प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद मार्च सन् १६१६ में सरकार ने 'रोलेट एक्ट' नाम से कुप्रसिद्ध 'इंडियन क्रिमिनल ला अमेंडमेंट एक्ट नं १' दमनकारी कानून बनाया, जिसके द्वारा अधिकारियों को अराजकता का संदेह किए जाने वाले लोगों की स्वतंत्रता छीनने के नए अधिकार दिए गए। जनता में इस कानून के विरुद्ध आन्दोलन जारी हुआ। म० गांधी ने जनता को सत्याग्रह का रास्ता दिखा कर इसे व्यापक रूप प्रदान दिया। रविवार ३० मार्च १६१६ का दिन हड़ताल के लिए नियत किया गया। इस दिन लोगों को उपवास रखने, ईश्वर-प्रार्थना करने तथा देश भर में सार्वजनिक सभाएँ करने के लिए कहा गया था। बाद को यह तारीख बदल कर ६ अप्रेल नियत की गई।

दिल्ली में इस परिवर्तन की सूचना ठीक समय पर नहीं पहुँची; वहाँ ३० मार्च को ही हड़ताल हुई और जलूस निकला। जलूस का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द जी कर रहे थे। गोरे सिपाहियों ने आपको गोली से मार डालने की धमकी दी। पर स्वामी जी ने सच्चे संन्यासी की तरह निर्भीकता का परिचय दिया। आपने छाती खोलदी और कहा 'लो, मारो गोली।' गोरे चकित हो गए, उनकी गोली नहीं चली। हाँ, स्टेशन पर कुछ झगड़ा होने पर गोली चली; ५ व्यक्ति मरे और कई घायल हुए। अन्य स्थानों पर छः अप्रेल को ही सत्याग्रह का कार्यक्रम रहा—व्रत, हड़ताल और जलूस तथा सभाएँ। इस अवसर पर हिन्दू-मुस्लिम एकता का विलक्षण भाव नजर आया; हर जलूस और सभा से यही ध्वनि आ रही थी।

सत्याग्रह के प्रति आकर्षण—सत्याग्रह को जनता ने क्यों अपनाया ? सरकार के तरह-तरह के अत्याचारों से आदमी छटपटा रहे थे। कुछ जोशीले युवक आतंक मार्ग पर चल रहे थे। पर दूसरे अनेक

व्यक्ति इस मार्ग के पथिक नहीं बनना चाहते थे, या नहीं बन सकते थे। कुछ आदमी सभा-सोसायटियों में भाषण देकर या राष्ट्रीय पत्रों में लेख लिख कर अपने कुछ उद्‌गार प्रगट कर सकते थे। पर इससे उनकी तृप्ति नहीं होती थी। उनके मन में विद्रोह का तूफान उठता था, पर उसे बाहर आने का कोई रास्ता नहीं मिल रहा था। पंडित जवाहर-लाल नेहरू ने अपनी जीवनी में लिखा है—'*जब मैंने अखबारों में सत्याग्रह का प्रस्ताव पढ़ा तो मेरे मन को बहुत सान्त्वना मिली। कम-से-कम मन के घुटते हुए असन्तोष को बाहर निकलने का स्वस्थ रास्ता तो मिला। मेरे मन में भावनाएँ धधक उठीं, वे सम्हाले नहीं सम्हल पाती थीं, और मैं सत्याग्रह की लपटों में कूद पड़ना चाहता था।*'

सत्याग्रह आन्दोलन ने ऐसे युवकों को अपना साहस, अपना त्याग और बलिदान-भाव प्रगट करने का अवसर दिया। उनकी देखा-देखी दूसरों में उनके अनुकरण की भावना पैदा हुई। फिर, सत्याग्रह में उपवास और ईश्वर-प्रार्थना आदि की बातों का समावेश होने के कारण यह धार्मिक मनोवृत्ति वालों के लिए अपना अलग ही आकर्षण रखता था। भारत-भूमि इसके लिए बहुत ही अनुकूल प्रमाणित हुई।

सरकार के अत्याचार; जलियानवाला-बाग-हत्याकांड —सत्याग्रह द्वारा देश अहिंसात्मक क्रान्ति कर रहा था। सरकार को यह कैसे सहन होता! उसने इसे दमन करने के लिए जिन नृशंस उपायों का अवलम्बन किया, वे अँगरेजी शासन के इतिहास में सदा के लिए कलंक के टीके रहेंगे। लाठी-चार्ज गोली-कांड आदि तो मामूली बातें थीं। सरकारी अत्याचारों का कुछ नमूना वीरभूमि पंजाब के फौजी शासन और जलियांवाला-बाग के हत्याकांड से मिलता है। १३ अप्रेल १६१६ को, जब कि हिन्दुओं का संवत्सर का दिन था, अमृतसर में एक सार्वजनिक सभा जलियांवाला बाग में हुई। यह स्थान शहर के बीच में ही है, इसके चारों ओर ऊंचे मकान हैं। इसका दरवाजा इतना

सँकरा है कि एक गाड़ी भी उसमें से मुश्किल से निकल सकती है। सभा में बीस हजार पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे इकट्ठे हुए थे कि जनरल डायर सौ हिन्दुस्तानी और पचास गोरे सिपाहियों को लेकर वहाँ पहुँचा और लोगों को तितर-बितर होने की आज्ञा देकर तीन मिनट में ही गोली चलवादी। गोली उस समय तक चलती रही, जब तक कि सब कारतूस समाप्त न हुए। कुल सोलह सौ बार गोली चलाई गई। सरकारी बयान के अनुसार चार सौ आदमी मरे और घायलों की संख्या एक और दो हजार के बीच में रही। मुर्दों और घायलों को वहीं रात भर पड़े रहने दिया गया। घायलों को पानी पिलाने या डाक्टरी मदद पहुँचाने की कोई व्यवस्था नहीं की गई।

फौजी कानून का आतंक—सरकार ने जनता पर कैसा आतंक जमाया था, यह आगे उदार-दली सर शिव स्वामी ऐयर के शब्दों में पढ़िए—"जलियांवाला बाग में भीड़ को वहाँ से हट जाने का अवसर दिए बिना सैकड़ों आदमियों का गोलियों से भून दिया जाना, घायल होने वाले सैकड़ों व्यक्तियों के प्रति जनरल डायर की पूर्ण उपेक्षा, भागते हुए लोगों पर मशीनगनों से गोलियों की बौछार, लोगों का सरे-आम कोड़ों से पीटा जाना, हजारों विद्यार्थियों को हाजरी देने के लिए रोज १६ मील चलने के लिए बाध्य करना, पांच से सात वर्ष तक के बच्चों को फौजी परेड के समय सलाम देने के लिए बुलाना, मकानों के मालिकों को उनकी दीवारों पर लगे हुए मार्शल ला के पर्चों की रक्षा के लिए जिम्मेदार ठहराना, एक बारात की बारात को कोड़े लगाना, चिट्ठी-पत्रियों पर रोक, बादशाही मस्जिद का छः सप्ताह के लिए बन्द किया जाना, लोगों का, खासकर जिन्होंने सरकार को महायुद्ध में धन-जन की मदद दी थी, बिना यथेष्ट कारण के गिरफ़्तार तथा नज़रबन्द किया जाना, इसलामिया स्कूल के छः विद्यार्थियों को केवल इस लिए कोड़े लगाए जाना कि वे अपने स्कूल के लड़कों में सबसे बड़े थे, गिरफ़्तार किए गए लोगों को बन्द करके रखने के लिए पिंजड़े का

बनवाया जाना, हाथ-पैर के बल चलने जैसी नायाब सजाओं की ईजाद, लोगों के हथकड़ियाँ डाल कर और उन्हें रस्सी से बांध कर बिना छत की गाड़ियों में १५-१५ घंटे रखना, निशस्त्र नागरिकों के विरुद्ध वायुयानों, लेविस-गन तोपों तथा युद्ध के आधुनिकतम साधनों का प्रयोग, संदिग्ध लोगों की गिरफ़्तारी के लिए दूसरों को हिरासत में रखना और सम्पत्ति ज़ब्ती तथा बर्बादी, हिन्दू-मुस्लिम एकता के फल का प्रदर्शन करने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों की जोड़ियाँ बना कर उन्हें हथकड़ियाँ पहनाना, हिन्दुस्तानियों के घर बिजली तथा पानी न पहुँचने देना, उनकी सवारियाँ छीन कर योरपियनों को अपने काम के लिए दे देना, मुक़दमों का बेहद तेजी से फ़ैसला ताकि मार्शल ला की अवधि समाप्त होते-होते सजा दे दी जाय—मार्शल ला के शासन की जिन बहुत सी बातों ने पंजाब में आतंक का साम्राज्य स्थापित कर दिया था और सारे देश के लोकमत को स्तंभित कर दिया था, उनके ये कुछ नमूने हैं।"

फौजी कानून के ये अत्याचार पंजाब तक ही सीमित न थे, अन्य अनेक स्थानों में भी न्यूनाधिक रूप में हुए। इसी प्रकार देश भर में छोटे-मोटे कुल मिला कर कितने जलियांवाला-बाग। कांड हुए!

सन् १६१६ की कांग्रेस—सरकारी अधिकारी समझते थे कि हमने पंजाब को आगामी ५० वर्ष के लिए दबा दिया, परन्तु दिसम्बर १६१६ में कांग्रेस का जो अधिवेशन अमृतसर में हुआ, वह उनके भ्रम को हटाने के लिए काफी से ज्यादा था। इस अधिवेशन में प्रतिनिधियों की संख्या ६ हजार थी। दर्शकों सहित कुल उपस्थित सज्जन लगभग बीस हजार थे। इस विशाल कांग्रेस ने घोषणा की कि नए सुधार अपूर्ण, असंतोषप्रद और निराशाजनक हैं; पार्लिमेंट को चाहिए कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारत में शीघ्र ही उत्तरदायित्व पूर्ण शासन स्थापित करने का प्रबन्ध करे।

पंजाब-कांड की जाँच—पंजाब की दुर्घटनाओं की जांच के

लिए कांग्रेस ने एक उपसमिति नियुक्त की। उधर सरकार की ओर से हंटर कमेटी अलग नियत हुई। भारत-सरकार ने कांग्रेस-उपसमिति की रिपोर्ट पर विचार नहीं किया और न हंटर-कमेटी के ही तीन हिन्दुस्तानी सदस्यों की अल्प-मत रिपोर्ट पर कुछ ध्यान दिया। उसने इस कमेटी के पाँच अँगरेज मेम्बरों की रिपोर्ट को ही प्रामाणिक माना, जिसमें पंजाब के दंगों का कारण सत्याग्रह बताया गया था। उसने अधिकारियों के अपराध पर लीपापोती कर दी। कांग्रेस-कमेटी ने सरकारी और गैर-सरकारी दोनों रिपोर्टों पर विचार करके कांग्रेस उपसमिति की रिपोर्ट स्वीकार की, हंटर-कमेटी की बहुमत रिपोर्ट तथा उस से सम्बन्धित भारत-सरकार और भारत-मंत्री के वक्तव्य निन्दनीय बतलाए, और सत्याग्रह आन्दोलन उचित और उपयोगी ठहराया।

असहयोग—इस समय महायुद्ध में हारे हुए टर्की के प्रति ब्रिटिश सरकार का रुख भी खासकर मुसलमानों को बहुत अखर रहा था। 'खिलाफत'-सभा ने असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। देश की सारी परिस्थिति पर विचार करने के लिए सितम्बर १६२० में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ते में किया गया। म० गाँधी की प्रेरणा से इसमें असहयोग का प्रस्ताव हुआ, जिसमें कहा गया कि "जब तक दोनों अन्यायों (खिलाफत तथा पंजाब) का प्रतिकार नहीं हो जायगा, भारत को सन्तोष नहीं होगा; और, राष्ट्र के सम्मान की रक्षा तथा भविष्य में ऐसे अन्यायों को रोकने का एकमात्र उपाय स्वराज्य की स्थापना है। वर्तमान स्थिति में यहाँ जनता के लिए उत्तरोत्तर बढ़ने वाले असहयोग के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।" असहयोग का काम में लाया जाने वाला कार्य-क्रम स्थिर किया गया। इसमें सरकारी स्कूल, अदालतें कौंसिलों की मेम्बरी, वकालत, सरकारी पद तथा उपाधियाँ आदि छोड़ने और विदेशी वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं के बहिष्कार के साथ राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ और पंचायतें स्थापित करने तथा खादी के निर्माण और प्रचार आदि पर जोर देने की बात थी।

कांग्रेस का नया रूप; म० गांधी की देन—यद्यपि सन् १९०५ के बाद से कांग्रेस में कुछ नई जान आने लगी थी, उसका अधिवेशन सन् १९१८ तक थोड़े-से अँगरेजी पढ़े-लिखे वकील, बैरिस्टरों, सम्पादकों या प्रोफेसरों आदि का उत्सव होता था। इन सज्जनों को कांग्रेस आन्दोलन चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती तो ये धनी-मानी लोगों के पास पहुँचते, जो प्रायः इनका लिहाज करके आर्थिक सहायता दे देते। उनके द्रव्य से देश का 'कुछ लाभ' होगा, इसका वे विश्वास कर लेते थे। इससे अधिक सोचने या जानने की वे अवश्यकता नहीं समझते थे। इस प्रकार साधारण जनता को कांग्रेस के कार्यों में न कोई रुचि थी और न उन्हें इसकी कुछ जानकारी ही होती थी। जब कि देश में भारतीय भाषाओं का भी ज्ञान थोड़े से ही आदमियों को हो, अँगरेजी के विद्वानों की सभा (कांग्रेस) की यह स्थिति होना स्वाभाविक ही था; फिर कांग्रेस पर सरकार की कोप-दृष्टि भी रहने लग गई थी। अस्तु, सन् १९१८ तक—अपनी स्थापना के ३३ वर्ष तक—कांग्रेस आन्दोलन का जनता से सम्पर्क नहीं के बराबर था।

सन् १९१९ में म० गांधी के नेतृत्व में होने वाले सत्याग्रह और असहयोग आदि ने कांग्रेस का स्वरूप ही बदल दिया। अब तो आन्दोलन-कर्ताओं को बात-बात में जनता के पास पहुँचने और उसका सहयोग प्राप्त करने का काम था। हड़ताल करने के लिए, सरकारी स्कूलों और अदालतों का बहिष्कार करने के लिए, राष्ट्रीय विद्यालय और पंचायत स्थापित करने के लिए जनता से अपील की जाने लगी। कांग्रेस वाले गली-बाजार और घर-घर पहुँचने लगे, और जनता को उसकी भाषा में समझाने लगे। इस तरह कांग्रेस की बात ऊँची या मध्य श्रेणीवालों तक परिमित न रहकर जनता के नीचे-स्तर तक पहुँचनी, और कांग्रेस जनता की संस्था होनी शुरू हो गई। उसके लिए अब जनता की भाषा अपनाना आवश्यक हो गया। कांग्रेस को यह विराट और उन्नत स्वरूप प्रदान करना, इसे यथानाम 'राष्ट्रीय'

बनाना—यह मा० गांधी का काम है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में महात्मा जी की यह अभूतपूर्व देन है।

नागपूर कांग्रेस, स्वराज्य का आदर्श—कांग्रेस का छत्तीसवाँ अधिवेशन दिसम्बर १६२० में नागपूर में हुआ। इस अधिवेशन में प्रतिनिधियों की संख्या चौदह हजार हो गई थी। इतनी संख्या पहले कभी नहीं हुई थी। साथ ही प्रतिनिधि-संख्या अब आगे भी इतनी होने की सम्भावना नहीं रही, क्योंकि नए नियमों के अनुसार कार्य सुचारु रूप से होने के लिए प्रतिनिधियों की संख्या परिमित कर दी गई। इस अधिवेशन में असहयोग-नीति की पुष्टि ही नहीं हुई, कांग्रेस का नया विधान भी बनाया गया। उसमें बताया गया कि 'राष्ट्रीय महासभा का उद्देश्य सभी कानूनी तथा शान्तिपूर्ण उपायों से भारत की जनता का स्वराज्य प्राप्त करना है।'

इसमें जानबूझ कर स्वराज्य की व्याख्या नहीं की गई। म० गांधी ने इस सम्बन्ध में कहा—'यदि ब्रिटिश सम्बन्ध भारत की उन्नति के लिए रहे तो हम उसे नष्ट करना नहीं चाहते, पर यदि वह हमारे राष्ट्रीय सम्मान के अनुकूल न हो तो उसे नष्ट करना हमारा कर्तव्य हो जायगा। पीछे कुछ लोगों ने यह स्पष्ट कर देना चाहा कि ब्रिटिश साम्राज्य से कोई सम्बन्ध न रखा जाय; कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना हो और इस लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों का निर्देश किया जाय। कुछ दूसरे आदमी चाहते थे कि 'कानूनी तथा शान्तिपूर्ण' की जगह 'अहिंसात्मक और सत्यतापूर्ण' शब्द रखे जायँ। पर इस प्रकार के संशोधनों के सभी प्रयत्न कई वर्ष तक असफल रहे।

राष्ट्रीय सप्ताह—'जलियाँनवाल-बाग कांड' की याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रेल तक 'राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाने लगा। इसमें रचनात्मक कामों की ओर खास ध्यान दिया जाता है। ये कार्य क्रमशः बढ़ते गए हैं। इस समय ये आगे लिखे हैं—(१) साम्प्रदायिक एकता, (२)

अस्पृश्यता निवारण, (३) नशाखोरी हटाना, (४) खादी प्रचार, (५) ग्रामोद्योग, (६) गाँवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा, (८) प्रौढ़-शिक्षा, (९) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा से प्रेम, (१३) आर्थिक समानता, और, (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन।

सविनय अवज्ञा; चौरीचौरा की घटना—सरकार का दमन खूब जोर-शोर से चला। संयुक्तप्रान्त आदि के कार्यकर्ताओं ने यह इच्छा प्रकट की कि प्रान्तीय सरकारों की दमन-नीति के प्रतिकार में सविनय अवज्ञा की जाय। इस पर अन्ततः कांग्रेस कमेटी ने प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार दे दिया कि वह अपने दायित्व पर सार्वजनिक अवज्ञा, जिसमें टैक्स न देकर न देना भी शामिल है, आरम्भ करे। अहमदाबाद कांग्रेस (सन् १९२१) के बाद २९ जनवरी को बारदोली (गुजरात) में कानून-भंग करने का निश्चय किया गया। परन्तु जैसा पहले (पाँचवें अध्याय में) बताया जा चुका है, गोरखपुर जिले के अन्तर्गत चौरीचौरा में उत्तेजित जनता हिन्सात्मक कार्यों पर उतर आई, और महात्मा जी ने सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम स्थगित कर दिया। उत्साह के सहसा अवरोध किए जाने पर कार्यकर्ताओं में निराशा उत्पन्न हो गई, और उसकी छाया सर्वसाधारण पर भी पड़ी। महात्मा जी गिरफ़्तार कर लिए गए और आतङ्ककारियों की हलचलें दो वर्ष स्थगित रहकर फिर जारी हो गईं।

इधर कांग्रेस की ओर से सविनय अवज्ञा के सम्बन्ध में देश की परिस्थिति की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई। इसने देश भर के खास-खास स्थानों में दौरा किया। इसके पास इसके प्रश्नों के ४५९ उत्तर आए थे। कमेटी ने इनमें से ३६६ के लेखकों की मौखिक गवाही ली। इसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'देश अभी विस्तृत सामूहिक सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं है। सम्भव है कि विशेष परिस्थिति

के कारण किसी जगह के लिए किसी एक कानून या सरकारी आज्ञा को भंग करना या किसी स्थानीय या प्रान्तीय कर के देने से इनकार करना ज़रूरी हो। इसलिए अ० भ० कांग्रेस कमेटी की शर्तें पूरी होने पर परिमित सामूहिक सविनय अवज्ञा देने का अधिकार प्रान्तीय कमेटियां के हाथ में दे देना चाहिए।'

कौंसिलों के बहिष्कार के सम्बन्ध में मतभेद रहा; हकीम अफ़ज़ल खाँ, पण्डित मोतीलाल नेहरू और श्री पटेल बहिष्कार को उठाने के पक्ष में रहे।

स्वराज्य दल—सन् १९१९ के शासन-सुधारों के अनुसार व्यवस्थापक सभाओं का पहला चुनाव सन् १९२० में हुआ, उस समय कांग्रेस ने असहयोग की नीति रखी थी। पीछे सविनय अवज्ञा जांच कमेटी की रिपोर्ट तथा कांग्रेस के गया अधिवेशन (सन् १९२२) के बाद कांग्रेसवादियों का एक दल ऐसा बन गया, जिसने चुनाव में भाग लेना और व्यवस्थापक सभाओं में जाकर थोथे सुधारों को नष्ट करना उचित समझा। यह 'स्वराज्य-दल' था। इसने सन् १९२३ में होने वाले चुनावों में भाग लिया। इसे बंगाल और मध्यप्रान्त में सफलता मिली। इस पर इन प्रान्तों में मंत्रियों का वेतन अस्वीकृत या नाममात्र को स्वीकृत हुआ और सरकार की बारबार हार हुई। तथापि मंत्री अपने पद पर बने रहे। इससे शासन का अनुत्तरदायी होना स्पष्ट सिद्ध हो गया।

साइमन कमीशन—सन् १९२८ में भारतीय शासन सुधारों के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए ब्रिटिश पार्लिमेंट की ओर से साइमन कमीशन यहाँ आया। उसके सातों सदस्य अँगरेज थे, और वे भी अनुदार दल के। कांग्रेस के आदेश से इनका हर जगह बहिष्कार किया गया। इस विषय में कांग्रेस और लिबरल-दल वालों में खूब सहयोग रहा। बहिष्कार करनेवालों के जलूस निकले और पुलिस ने उन पर लाठी-चार्ज किया। लाला लाजपतराय पर हुए प्रहार का उल्लेख पहले

किया जा चुका है। कमीशन की रिपोर्ट सन् १६३० में जाकर प्रकाशित हुई। उसमें भारत के लिए न औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव था और न केन्द्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने का। भारतीय व्यवस्थापक सभा का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा न किए जाने की सिफारिश थी। ऐसी रिपोर्ट पर कैसी प्रतिक्रिया होगी, इसे अधिकारियों ने नहीं सोचा।

औपनिवेशिक स्वराज्य की अंतिम माँग—कांग्रेस अपनी आयु के चालीस वर्ष तक केवल औपनिवेशिक स्वराज्य तक आई थी। इसका ध्येय भारत के लिए 'डोमिनियन स्टेटस' अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीन उपनिवेशों जैसा पद प्राप्त करना है। उस समय की साधारण विचार-धारा यही थी। क्रमशः देश का प्रगतिशील या अगुआ दल इस राजनैतिक ध्येय से असंतुष्ट होता गया। उसने अनुभव किया कि अपनी पुरानी संस्कृति, इतिहास तथा परम्परा और विशाल जनतावाले भारत के लिए ऐसा पद उसके स्वाभिमान के विरुद्ध है। भारत गोरे उपनिवेशों की तरह इंगलैंड से सम्बद्ध नहीं है। फिर 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की चाहे जो परिभाषा की जाय, वह राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति को सीमाएँ बांधनेवाला है। हमारी राजनैतिक आकांक्षाएँ हमारे गौरव के अनुरूप होनी चाहिएँ। ऐसे विचारों से प्रेरित होकर सन् १६२७ के लगभग कांग्रेस में कुछ नवयुवकों ने 'इंडिपैंडेंस लीग' संगठित की। इन्होंने यह आन्दोलन करना शुरू किया कि कांग्रेस का आदर्श 'स्वराज्य' की जगह 'ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर रहकर पूर्ण-स्वराज्य-प्राप्ति' ठहराया जाय।

मई १६२८ में सर्वदल सम्मेलन द्वारा श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई, जो भारतीयों की शासन सम्बन्धी कम-से-कम माँगों का मसविदा तैयार करे। नेहरू-कमेटी की रिपोर्ट पर सर्वदल सम्मेलन ने अगस्त में विचार करके औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्ष में मत दिया।

कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (१६२८) के अवसर पर कांग्रेस के लक्ष्य का प्रश्न जोर से उठा। आखिर, इस आशय का प्रस्ताव पास हुआ कि कांग्रेस नेहरू-कमेटी की तैयार की हुई शासन-योजना को ३१ दिसम्बर १६२६ तक के लिए स्वीकार करती है। यदि उस समय तक ब्रिटिश पार्लिमेंट ने उसे स्वीकार न किया तो कांग्रेस अहिन्सात्मक असहयोग का संगठन शुरू कर देगी और देश को इस बात के लिए तैयार करेगी कि सरकार को न तो टेक्स दे, और न किसी प्रकार अन्य सहायता ही दे।

इस बीच में तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने ३१ अक्तूबर १६२६ को ब्रिटिश सरकार की सन् १६१७ की घोषणा को दोहराते हुए ब्रिटिश सरकार की ओर से यह कहा कि उस घोषणा का यह मन्तव्य है कि भारत की वैधानिक प्रगति का अर्थ औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है। वायसराय ने यह सूचित किया कि शीघ्र ही लन्दन में एक सम्मेलन होगा, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की अधिक-से-अधिक सहमति से ब्रिटिश सरकार ऐसे प्रस्ताव तैयार कराने की चेष्टा करेगी, जिन्हें बाद में पार्लिमेंट में पास कराने का प्रयत्न किया जायगा।

इस पर भारत के प्रमुख राजनैतिक दलों के नेताओं ने दिल्ली में मिलकर यह निश्चय किया कि वे उपयुक्त औपनिवेशिक विधान की योजना तैयार करने के लिए सरकार को सहयोग प्रदान करने को तैयार हैं। इस में मुख्य शर्त यह रखी गई कि सब राजनैतिक कैदी छोड़ दिए जायँ, और सम्मेलन में सभी प्रगतिशील संस्थाओं को यथेष्ट प्रतिनिधित्व देते हुए, कांग्रेस को सब से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय। वायसराय ने कुछ नेताओं को मिलने के लिए दिल्ली बुलाया, पर वार्तालाप संतोषजनक न हुआ।

स्वाधीनता की घोषणा—सन् १६२६ के ३१ दिसम्बर तक की मियाद पूरी होने पर, इस तारीख की रात को बारह बजे

कांग्रेस ने लाहौर में श्री जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में स्वाधीनता का एक सविस्तर प्रस्ताव पास किया। उसमें कहा गया कि समझौते की वार्ताएँ असफल रहने के कारण वह लन्दन-सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि नहीं भेजेगी। कांग्रेस विधान में स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य माना जायगा। सविनय अवज्ञा और असहयोग का कार्यक्रम सूचित किया गया। कांग्रेस कार्यकारिणी के निश्चयानुसार सन् १९३० से हर साल २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाने लगा, और हर जगह स्वाधीनता की प्रतिज्ञा दोहराई जाने लगी। देश भर में लाखों आदमियों द्वारा एक ही समय में एक खास उद्देश्य के लिए सामूहिक प्रतिज्ञा लेने का खासकर भारत जैसे धार्मिक-भावना-प्रधान देश की जनता पर कैसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

स्वाधीनता की प्रतिज्ञा—*"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हमें भी विकास का पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और उसे सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी अधिकार है। भारत की अँगरेजी सरकार ने भारतवासियों का अपहरण ही नहीं किया है, बल्कि उसका आधार भी गरीबों के रक्त-शोषण पर है और, उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अँगरेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।*

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बे-हिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे हैं और हमसे जो भारी कर लिए जाते हैं, उनका

२० फीसदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फीसदी गरीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिए गए हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी जाते रहने से उनकी बुद्धि भी मंद हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिए गए हैं, उनके स्थान पर दूसरे देशों की भांति कोई नए उद्योग जारी भी नहीं किए गए हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अँगरेजी कारखानों से आता है। चुंगी के महसूल में अँगरेजी माल के साथ साफ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हलका करने में नहीं किया जाता बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे स्वेच्छाचारी ढंग से निश्चित की गई है कि देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से भारत का दर्जा जितना अँगरेजों के जमाने में घटा है, उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में वास्तविक राजनैतिक सत्ता नहीं आई है। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिए गए हैं और हमारे बहुत से देश-वासी निर्वासित कर दिए गए हैं। हमारी शासन की सारी प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गाँवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगीरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज से शिक्षाप्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी, और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीन कर हमें नामर्द बना दिया गया है। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबले की भावना को बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते।

"जिस शासन ने हमारे देश का इस प्रकार सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और भगवान् दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतंत्रता नहीं मिलेगी इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-संभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा एवं करबन्दी तक के साज सजावेंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किए बगैर कर देना बन्द कर सके तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। अतः हम शपथ पूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएँ देगी उनका हम पालन करते रहेंगे।"

इस प्रतिज्ञा का स्वरूप पीछे समय-समय पर बदलता रहा।

महात्मा जी की ग्यारह माँगें—सन् १६३० में कांग्रेस आगामी संघर्ष की तैयारी में लगी। महात्मा गाँधी सत्याग्रह-आन्दोलन के नेता थे। आपका ढँग ही निराला था। पूर्ण स्वाधीनता की बात हो रही थी, गोलमेज परिषद के विषय में विचार-विनिमय चल रहा था, तो भी महात्मा जी ने वायसराय लार्ड इरविन के सामने ग्यारह फुटकर माँगें रखीं—

१—सम्पूर्ण मद्य-निषेध।

२—विनिमय की दर घटाकर एक शिलिंग चार पेन्स की जाय।

३—ज़मीन का लगान आधा कर दिया जाय और उस पर कौंसिलों का नियंत्रण रखा जाय।

४—नमक-कर उठा दिया जाय।

५—सैनिक व्यय में आरम्भ में ही कम-से-कम पचास फी सदी कमी कर दी जाय।

६—लगान की कमी को देखते हुए बड़ी-बड़ी नौकरियों के वेतन कम-से-कम आधे कर दिए जायँ।

७—विदेशी कपड़े के आयात पर निषेध-कर लगा दिया जाय।

८—भारतीय समुद्र-तट केवल भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रखने का प्रस्तावित कानून पास कर दिया जाय।

९—हत्या या हत्या के प्रयत्न में साधारण ट्रिब्यूनलों द्वारा सजा पाए हुओं के सिवाय समस्त राजनैतिक कैदी छोड़ दिए जायँ। सारे राजनैतिक मुकदमे वापिस ले लिए जायँ; १२४-अ धारा और सन् १८१८ का तीसरा रेग्यूलेशन उठा दिया जाय, और सारे भारतीय निर्वासितों को लौट आने दिया जाय।

१०—खुफिया पुलिस उठा दी जाय, अथवा उस पर जनता का नियंत्रण कर दिया जाय।

११—आत्मरक्षार्थ हथियार रखने के परवाने दिए जायँ, और उन पर जनता का नियंत्रण रहे।

सरकार ऐसी बातों को स्वीकार करके साम्राज्यशाही की एक-एक ईंट को कैसे खिसकने दे सकती थी! वायसराय ने इन्हें स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस पर महात्मा जी ने लिखा—"मैंने विनम्र भाव से रोटी का सवाल किया था, और मुझे मिला पत्थर। अँगरेज जाति सिर्फ शक्ति का ही लोहा मानती है। इसलिए मुझे वायसराय साहब के उत्तर पर कोई आश्चर्य नहीं है। हमारे राष्ट्र के भाग्य में तो जेलखाने की शान्ति ही एकमात्र शान्ति है। सारा भारत ही एक विशाल कारागृह

है। मैं इस अँगरेजी कानून को मानने से इनकार करता हूँ और इस जबरदस्ती की शान्ति की मनहूस एकरसता को भंग करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ। इस शान्ति से राष्ट्र का गला रुंधा हुआ था। अब उसके हृदय का चीत्कार प्रगट होना चाहिए।"

नमक-सत्याग्रह आदि—कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई। महात्मा जी को सत्याग्रह प्रारम्भ करने का अधिकार दिया गया। महात्मा जी ने नमक-कानून भंग करने का निश्चय किया। कैसा अनोखा था यह सत्याग्रह संग्राम! अपनी बात शत्रु से छिपानी नहीं, उसे पहले से ही सावधान कर देना; हम कोई रक्तपात नहीं करेंगे, हमें उसकी तैयारी की कोई ज़रूरत नहीं; तुम्हें जो तैयारी करनी हो, कर लो। अस्तु, १२ मार्च १९३० को महात्मा जी साबरमती आश्रम से ७९ साथियों को लेकर दो सौ मील दूर सूरत जिले के दांडी गाँव की ओर चल दिए। छः अप्रेल को आपके द्वारा समुद्र-तट पर नमक-कानून भंग किया जाने पर देश में जगह-जगह उसकी पुनरावृत्ति हुई। सरकार की ओर से गिरफ़्तारियाँ, लाठी-वर्षा और गोलीकांड आदि सभी-कुछ हुआ। पर सत्याग्रही तैयार थे। महिलाओं ने भी बहुत वीरता और कष्ट-सहन का परिचय दिया। खासकर शराब की दूकानों पर धरना देने में उन्होंने बड़ा भाग लिया। सरदार पटेल के नेतृत्व में बारदोली और बोरसद के किसानों ने लगानबन्दी का सफल आन्दोलन किया। सरकार का दमन-चक्र खूब वेग से चला। लगभग ७० हज़ार स्त्री-पुरुष जेल पहुँचे; कांग्रेस-कार्यकारिणी तो गैर-कानूनी थी ही।

गोल-मेज़ परिषद्—इस बीच १२ नवम्बर १९३० को लन्दन में गोल-मेज परिषद आरम्भ हुई। भारत सरकार ने उसमें प्रान्तों की ओर से ५७ तथा रियासतों की ओर से १६ आदमी भेजे। कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई न था! इंगलैण्ड के भिन्न-भिन्न दलों के १३ नेता लिए गए थे। औपनिवेशिक स्वराज्य और संघशासन की चर्चा रही, राजाओं ने भी संघ शासन के पक्ष में विचार प्रकट किया। कुछ

विषयों की ब्योरेवार रिपोर्ट देने के लिए उपसमितियाँ बनाई गईं।

परिषद् के बाद कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य रिहा किए गए और ५ मार्च १६३१ को वायसराय का महात्मा जी से समझौता हुआ, जो गांधी-इरविन-समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर सत्याग्रह सम्बन्धी कैदी छोड़े गए और कांग्रेस कमेटियों तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं पर से पाबन्दी हटाई गई। कांग्रेस ने लन्दन के पहली गोलमेज परिषद् में भाग नहीं लिया था, अब दूसरी परिषद् के लिए अपना प्रतिनिधि भेजने के वास्ते उसे राजी किया गया।

कांग्रेस द्वारा नागरिक अधिकारों की घोषणा— कांग्रेस का कराची अधिवेशन (सन् १६३१) सरदार पटेल की अध्यक्षता में हुआ। इसमें नागरिक अधिकारों का सुप्रसिद्ध प्रस्ताव पास हुआ। इसमें निम्नलिखित बातें स्पष्ट की गईं—

१—नागरिकों के मूल अधिकारः—(क) सभा-समितियाँ करने की स्वतन्त्रता; (ख) भाषण और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, (ग) सार्वजनिक शान्ति, और ऐसे धर्म के मानने और उसके अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता, जो सदाचार के विरुद्ध न हो, (घ) अल्पसंख्यक समुदायों की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा, (च) स्त्री-पुरुष का भेद न मानते हुए सब नागरिकों के अधिकारों और उत्तर-दायित्व की समानता, (छ) धर्म या जाति के कारण किसी व्यक्ति के लिए कोई सरकारी नौकरी, पद, अधिकार या सम्मान पाने अथवा कोई रोज़गार या पेशा करने में रुकावट न होना, (ज) सार्वजनिक सड़कों, कुओं, तथा जनता के लिए बनाए हुए अन्य स्थानों के उपयोग का सब नागरिकों को समान अधिकार, (झ) निर्धारित नियमों के अनुसार हथियार काम में लाने का अधिकार, (ट) कानून में बताई हुई अवस्था के सिवाय किसी की स्वतन्त्रता का हरण न किया जाना, किसी के घर-जायदाद में प्रवेश न करना, और न उसका छीना या जब्त किया जाना (ठ) धार्मिक विषयों में राज्य की तटस्थता, (ड) हरेक बालिग आदमी

को मताधिकार, (ढ) अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा।

२—मज़दूरों की व्यवस्था:—(क) कल-कारखानों में काम करनेवालों के निर्वाह के लिए यथेष्ट वेतन, (ख) काम करने के परिमित घण्टे, (ग) काम करने का स्वास्थ्यप्रद प्रबन्ध, (घ) बुढ़ापे, बीमारी या बेकारी के आर्थिक परिणामों से रक्षा, (च) दासता या उससे मिलती-जुलती दशा से श्रमजीवियों का छुटकारा, (छ) स्त्री-मजदूरों की रक्षा, विशेषतया प्रसूति के समय छुट्टी का यथेष्ट प्रबन्ध, (ज) स्कूलों में पढ़ने की उम्रवाले बच्चों के, खानों में भरती होने का निषेध, (झ) अपने हितों की रक्षा के लिए मज़दूरों का संघ बनाने का अधिकार, और झगड़ों को पंचायतों द्वारा निपटाने की समुचित व्यवस्था।

३—राजकीय कर और व्यय:—(क) जिन खेतों से लाभ न होता हो, उनके किसानों से दिए जानेवाले लगान और किराए में काफ़ी छूट, और आवश्यक समय तक लगान की माफ़ी, (ख) कृषि से होनेवाली निर्धारित परिमाण से ऊपर की आय पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (ग) विरासत की जायदाद पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (घ) सैनिक व्यय में, वर्तमान परिमाण के कम-से-कम आधे की कमी (च) मुल्की विभागों के वेतन और व्यय में बहुत कमी; विशेष दशा में नियुक्त विशेषज्ञों आदि को छोड़कर किसी सरकारी नौकर को प्रायः पाँच सौ रुपए से अधिक मासिक वेतन न दिया जाना, (च) देशी नमक पर कर न होना।

४—आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था—(क) विदेशी कपड़े और सूत को देश में न आने देकर स्वदेशी कपड़े को प्रोत्साहन, (ख) शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं की रुकावट, (ग) मुद्रा और व्यापार-नीति का इस प्रकार नियन्त्रण कि स्वदेशी उद्योग-धंधों को सहायता मिले और जनता का हित हो, (घ) मुख्य उद्योगों और खनिज साधनों पर राज्य का नियन्त्रण, (च) सूदखोरी का नियन्त्रण।

नागरिक अधिकारों के इस ब्योरे का उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष में रहनेवाले जुदा-जुदा जाति, धर्म या श्रेणी के आदमियों को इस विषय की जानकारी हो जाय, और विदेशियों को भी हमारे विचारों का ज्ञान हो जाय।

फिर सत्याग्रह, फिर दमन—लन्दन में होनेवाली दूसरी गोल-मेज परिषद् में म० गांधी ने कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। उन्होंने वहाँ भारतीय राष्ट्र को परिस्थिति और आवश्यकताओं पर बहुत खूबी से प्रकाश डाला। परन्तु परिषद् तो मानो भारतीयों की फूट और अयोग्यता की विज्ञति करने के लिए ही की गई थी। महात्मा जी वहाँ के रंग-ढंग से बहुत दुखी हुए। दिसम्बर के अन्त में जब आप यहाँ लौटे तो देश की दशा को बहुत खराब पाया। इस समय लार्ड विलिंगडन का आर्डिनेंस-राज्य चल रहा था। कांग्रेस-नेता जेल में थे। सत्याग्रह हुआ। महात्मा जी भी जेल के मेहमान बनाए गए। सन् १९३२-३३ में फिर उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई, जो सन् १९३०-३१ में हुई थीं; हाँ, इस बार और अधिक परिमाण में।

साम्प्रदायिक निर्णय और पूना-समझौता—२० सितम्बर १९३२ को, ब्रिटिश प्रधान मंत्री रामसे मेकडानल्ड द्वारा हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व देकर साम्प्रदायिक भावना बढ़ाने का प्रयत्न किए जाने पर, महात्मा जी ने सुविख्यात पूना-उपवास किया। इससे भारत में ही नहीं इंगलैंड में भी हलचल मच गई। भारतीय नेताओं की सभा हुई, समझौता हुआ, जिसे इंगलैंड के प्रधान मंत्री ने स्वीकार किया। हरिजनों के पृथक् निर्वाचन का समूल अन्त तो नहीं हुआ, हाँ उसमें कुछ सुधार हो गया। दूसरी ओर इससे हरिजनों का प्रतिनिधित्व पहले की अपेक्षा बढ़ गया और सवर्ण हिन्दुओं का घट गया। अस्तु, महात्मा जी जेल से छोड़ दिए गए। पीछे सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया।

एकता सम्मेलन; ब्रिटिश सरकार की चालबाज़ी—हरिजनों का विषय निपट जाने पर महामना मालवीय जी ने प्रयाग में हिन्दू-मुस्लिम एकता-सम्मेलन की व्यवस्था की। कई बातों के बारे में सद्भावना-पूर्ण समझौता हो गया, जैसे—भारतीय व्यवस्थापक सभा में ब्रिटिश भारत के मुसलमानों को ३२ प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिले, सिंध को एक पृथक् प्रान्त बना दिया जाय, परन्तु उसके खर्चे के लिए भारत-सरकार से सहायता न दी जाय, और वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं की रक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाय। संयोग से यह बात ब्रिटिश सरकार को मालूम हो गई। जब कि सम्मेलन की कमेटी की बैठक कलकत्ते में हो रही थी, सर सेमुअल होर ने लंदन में अचानक यह कूटनैतिक घोषणा कर दी कि भारतीय व्यवस्थापक सभा में मुसलमानों को ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत अर्थात् एक तिहाई प्रतिनिधित्व मिलेगा और सिंध को पृथक् प्रान्त बना कर उसे भारत-सरकार से आर्थिक सहायता दी जायगी। इस सरकारी घोषणा ने समझौते की बात एकदम समाप्त कर डाली। मुसलमानों को अब समझौता करने में फायदा ही क्या रह गया था!

कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती—सन् १६३५ में कांग्रेस की स्थापना को ५० वर्ष हो गए, इसलिए इस साल कांग्रेस की जयन्ती धूमधाम से बम्बई में मनाई गई, जहाँ सन् १८८५ में इसका जन्म हुआ था। २८ दिसम्बर को देश भर में इसकी खूब चहल-पहल रही। अनोखे अहिंसात्मक ढंग से स्वाधीनता की लड़ाई लड़नेवाली भारतीय जनता की यह सर्वश्रेष्ठ संस्था थी। इसने समय-समय पर अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। इसके नेतृत्व में बालकों, युवकों तथा बूढ़ों में, पुरुषों एवं स्त्रियों में त्याग और बलिदान की अपूर्व भावना जागृत हुई थी। इसकी पुकार पर हजारों आदमियों ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था, और आगे करने के लिए तैयार थे। अस्तु, इसका जयन्ती-उत्सव देश भर के स्वाधीनता-प्रेमियों का उत्सव था। घर-घर पर, दुकानों तथा दफ़्तरों पर,

तांगों, इक्कों, साइकलों और मोटरों पर राष्ट्रीय तिरंगे की बहार थी। राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद के पास देश-विदेश से आनेवाले संदेशों की भरमार थी। कांग्रेस लगातार अपनी यात्रा करती जा रही थी, कौन जाने वह कितनी बाकी थी, पर उसकी अन्तिम विजय में किसी विचार-शील को सन्देह नहीं था।

सन् १९३५ का विधान; 'प्रान्तीय स्वराज्य'—तीन गोल-मेज परिषदों और संयुक्त पार्लिमेंटरी कमेटी की रिपोर्ट आदि के बाद भारत के भावी विधान का मसविदा जुलाई सन् १९३५ में ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा स्वीकार होकर कानून के रूप में आया। इसके अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए संघ-शासन विधान की योजना बनाई गई, और उसकी स्थापना के लिए कुछ शर्तें ठहराई गईं। गवर्नर-जनरल को देश-रक्षा, धर्म, पर-राष्ट्र तथा जंगली जातियों के विषयों में अपनी मर्जी से अर्थात् बिना अपने मंत्रियों की सलाह के, और दूसरे कई विषयों में अपने मंत्रियों की सलाह के विरुद्ध काम करने का अधिकार दिया गया। विधान का यह केन्द्र सम्बन्धी भाग बहुत ही असन्तोषजनक था। इसे अमल में आने का अवसर ही नहीं आया। केवल प्रान्तों सम्बन्धी भाग ही कार्य-रूप में परिणत हुआ। ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे प्रान्तों में स्वराज्य देनेवाला बतलाया था। उनका यह दावा, गवर्नरों के विशेषाधिकारों आदि के कारण, कांग्रेस को किसी प्रकार मान्य नहीं था, तो भी उसने इस विधान के अनुसार चुनाव लड़े। केवल पंजाब और सिंध को छोड़ कर वह सभी प्रान्तों में विजयी हुई। पद-ग्रहण के विषय में नेताओं में मतभेद था। आखिर सन् १९३७ में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का ग्यारह प्रान्तों में से आठ में, निर्माण हो गया। बीच में गवर्नरों और मंत्रिमंडलों में वैधानिक विवाद उठे, पर उन्हें सुलझा लिया गया।

कांग्रेस के पद-ग्रहण से कई लोकोपयोगी कार्य हुए, जनता में स्फूर्ति पैदा हुई, कांग्रेस की शक्ति बढ़ी। शासन-कार्य का अनुभव हुआ। पर

विधान तो असन्तोषजनक था ही। कांग्रेस उसे रद्द करने के लिए, उसके विरुद्ध लोकमत संगठित करने के लिए, तथा विधान सभा के निर्माण की मांग मजबूत करने के लिए प्रयत्न करती रही।

दूसरा महायुद्ध; कांग्रेस मंत्रिमंडलों का त्याग-पत्र—सितम्बर १६३६ में दूसरा योरपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। अब ब्रिटिश सरकार ने यहाँ की प्रान्तीय कांग्रेस-सरकारों का मत लिए बिना भारतवर्ष को युद्ध-संलग्न घोषित कर दिया। प्रान्तों में केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। कांग्रेस-सरकारों द्वारा युद्ध का उद्देश्य पूछे जाने पर संतोषजनक उत्तर न मिला। कांग्रेस की माँग थी कि तुरन्त ही अन्तःकालीन राष्ट्रीय सरकार बनाई जाय और युद्ध समाप्त होने पर भारतवासियों को अपनी विधान-सभा बना कर उसके द्वारा अपनी शासन-पद्धति निश्चित करने का अधिकार रहे। ब्रिटिश सरकार को ऐसी बात कब सुहाती! आखिर, अक्तूबर १६३६ में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्याग-पत्र देदेने पर उनकी जगह दूसरे मंत्रिमंडल बनाने का विचार न कर गवर्नरों ने प्रान्तीय शासन सम्बन्धी सब अधिकार अपने हाथ में ले लिए।

वैयक्तिक सत्याग्रह—सन् १६४० में म० गांधी ने वैयक्तिक-सत्याग्रह आरम्भ किया। इसके फल-स्वरूप लगभग २५ हजार आदमी जेल पहुँचाए गए। इनमें वे कांग्रेसी मंत्री भी थे, जिन्होंने कुछ ही महीनों पहले अपने अधिकार से राजनैतिक बन्दियों को रिहा किया था, और जो दो-ढाई वर्ष तक अपने-अपने प्रान्तों में शासन-सूत्र संभाले हुए थे। प्रतिष्ठित सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को जेल भेजना और छोड़ना—यह आँख-मिचौनी का सा खेल खेलना ब्रिटिश सरकार के लिए साधारण बात हो गई थी।

इस वैयक्तिक सत्याग्रह के कारण बहुत से आदमी असन्तुष्ट और अप्रसन्न हुए। उत्साही और जोशीले कार्यकर्ताओं की दृष्टि से यह एक हास्यास्पद बात थी कि आदमी पहले से सूचना देकर एक खास जगह पहुँचे और वहाँ 'युद्ध में भाग लेना अनुचित है'—नारा लगा कर

गिरफ़ार हो जायँ। आलोचक कहते थे कि 'महात्मा गांधी इस आन्दोलन को प्रतीक या संकेत बताते हैं, परन्तु जिस ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ना है, वह तो कोई प्रतीक या संकेत मात्र नहीं है। साम्राज्यवाद के साथ एक प्रतीक से लड़ना राजनैतिक दिवालियापन है। गांधी-आन्दोलन में अब कोई दम नहीं रहा है।' महात्मा जी को ऐसी आलोचना या व्यंग की भनक पड़ जाने पर भी आप अपने ढंग से ही आन्दोलन का संचालन करते रहे। आपको दूसरों की निन्दा या स्तुति की परवाह न होकर अपने आत्म-संतोष का ध्यान था।

क्रिप्स योजना की असफलता—दिसम्बर १९४१ में जापान ने अचानक पर्ल हार्बर (बन्दरगाह) पर हमला करके अमरीका को चकित कर दिया। पीछे वह बिजली की गति से फिलिपाइन्स, हांगकांग, सिंगापुर, मलाया, बर्मा आदि में विजय प्राप्त करता गया। उसकी सेनाएँ भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँची और उसके द्वारा भारत पर आक्रमण किए जाने की आशंका होने लगी। ऐसी अवस्था में मार्च १९४२ में अचानक ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत के भावी शासन की एक योजना लेकर यहाँ आए। उसमें भारत को युद्ध-काल के बाद कुछ शर्तों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात कही गई। कांग्रेस की तात्कालिक सुधार की माँग को युद्ध समाप्त होने तक के लिए टाल दिया गया, पाकिस्तान बनने की सम्भावना मान ली गई, और नौ करोड़ रियासती जनता की उपेक्षा की गई।

वास्तव में यह योजना एक ऐसी हुँडी की तरह थी, जिस पर आगे की मिति डाली हुई हो, जिसका तत्काल मूल्य न हो। कांग्रेस की यह माँग थी कि राष्ट्र-रक्षा की पूरी जिम्मेवारी हमारे हाथ में होनी चाहिए, तभी देश की जनता में वह उत्साह हो सकता है, जो युद्ध के सफल संचालन के लिए आवश्यक है। फिर, युद्ध-काल में शासन के सब विभाग इसी विभाग के सहायक और पोषक बन जाते हैं; अतः रक्षा विभाग की तुलना में वे गौण हो जाते हैं। अस्तु, योजना में अपने लिए

आवश्यक सत्ता न पाकर कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। अन्य राजनैतिक दलों द्वारा भी स्वीकृत न होने के कारण यह योजना अमल में नहीं आई ; यह असफल रही।

जनता का असंतोष और क्षोभ — सर स्टेफर्ड क्रिप्स मजदूर-दल के नेताओं में से थे, वे भारतीय स्वाधीनता से बहुत सहानुभूति दिखा चुके थे। पर पदाधिकारी बनने के बाद बहुत से आदमियों की पूर्व विचार-धारा बदल जाया करती है, अथवा यों कहें कि इस समय वे मंत्री-पद के भार से दबे हुए थे, वे मंत्रिमंडल की इच्छानुसार ही व्यवहार कर सकते थे। अस्तु, भारत आकर उन्होंने जो प्रस्ताव यहाँ नेताओं के सामने रखे, और जो मनोभाव प्रकट किया, वह यहाँ वालों को आश्चर्यजनक प्रतीत हुआ। क्रिप्स से बहुत से आदमियों को बड़ी आशाएँ थीं, उन्हें निराश होना पड़ा। पर निराश बैठने से भी काम नहीं चलता था। जनता को कुछ करना था। विदेशी शासन असह्य हो रहा था; उससे मुक्ति पाने का काम करना था। क्या काम हो, किस तरह हो, इस पर गम्भीरता और शान्ति-पूर्वक सोचने का वातावरण दिन-पर-दिन कम होता जा रहा था। कोई जोरदार कदम उठाने की भावना थी, भले ही उसका परिणाम चाहे जो हो। जो अपमान, संकट और अत्याचार सह रहे हैं, उससे अधिक मुसीबत और क्या होगी—इस प्रकार की विचार-धारा जनता में बढ़ती जा रही थी। इसके बाद देश में जो महान क्रान्ति हुई, उसके विषय में आगे लिखा जायगा।

आठवाँ अध्याय

सन् १९४२ की जन-क्रान्ति

अब आज जवानी जाग पड़ी हिल पड़ीं गुलामी की कड़ियाँ।
पददलित जाति के जीवन से बरसीं ज्वाला की फुलझड़ियाँ ॥
स्वाधीन बनेगी मानवता आई आजादी की घड़ियाँ।
बेड़ियाँ पगों में झनक उठीं खनकी हाथों में हथकड़ियाँ ॥
खौला अब खून जवानों का मिल गई शान्ति छाई अशान्ति।
जनता ने जयजयकार किया आगई क्रान्ति यह महाक्रान्ति ॥
—'करील'

आतंकवाद और अत्याचार का अँगरेजों का सारा शस्त्रागार खाली हो गया, पर भारतीय जनता की स्वतंत्र होने की आकांक्षा नहीं कुचली जा सकी।
—डा० ताराचन्द

प्राक्कथन—इस अध्याय में हम सन् १९४२ के उस जन-आन्दोलन का विचार करेंगे, जिसका सूत्रपात तो कांग्रेस ने किया परन्तु जिसका संचालन कांग्रेस द्वारा न होकर एक प्रकार से जनता द्वारा ही हुआ। पहले बताया जा चुका है, कि क्रिप्स-योजना की असफलता के बाद देश में घोर असन्तोष और क्षोभ था। इधर, म० गांधी तथा अन्य नेताओं ने अपने लेखों और भाषणों में बारबार किसी आनेवाले आन्दोलन की बात कह कर जनता की उत्तेजना और उत्सुकता को बहुत बढ़ा दिया था। 'कुछ होकर रहेगा', 'क्या होनेवाला है?'—ये शब्द हर एक की जबान पर थे।

म० गांधी की, अँगरेज जनता से अपील—इस समय महात्मा जी भारतीय राष्ट्र के सूत्रधार थे। आपकी वाणी में मानो इस देश की जनता बोल रही थी। आनेवाले आन्दोलन के सम्बन्ध में आपकी विचारधारा को जानना और समझना बहुत आवश्यक है। आपने १७ मई, को 'हर एक अँगरेज से' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। इसका निम्नलिखित अंश कितना विचारणीय है—

'हर एक ब्रिटेनवासी से मेरी प्रार्थना है कि वह मेरी इस अपील का समर्थन करे कि अँग्रेज अफरीका और एशिया में उनके अधिकृत सब देशों से, या कम-से-कम हिंदुस्तान से, इसी घड़ी हट जाएँ। दुनिया की सलामती और फासिस्ट और नाजीवाद के नाश के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। इसमें मैं जापान को भी शामिल करता हूँ, क्योंकि वह इन दो वादों की एक खासी नकल है। अगर मेरी यह अपील स्वीकार कर ली जाय, तो इसके परिणाम-स्वरूप सब धुरी शक्तियों की और ग्रेट ब्रिटेन के फौजी सलाहकारों की भी सब जंगी योजनायें मिट्टी में मिल जाएँगी।' इस अपील की कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई, पर भारतवासी उसकी इन्तजार में रुके नहीं रह सकते थे।

आठ अगस्त का प्रस्ताव—१४ जुलाई १६४२ को इलाहाबाद में कांग्रेस कार्य-समिति ने जो प्रस्ताव पास किया, उस पर ८ अगस्त को बम्बई में विचार होकर, वह ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया गया जो आठ अगस्त के प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है। इसे आगे दिया जाता है—

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने कार्य-समिति के १४ जुलाई १६४२ वाले प्रस्ताव और बाद की घटनाओं पर, जिनमें ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार वक्ताओं के कथन तथा भारत व विदेशों की आलोचनाएँ भी शामिल हैं, बड़े ध्यान से विचार किया है। कमेटी उस प्रस्ताव को पसंद करती है और उसे स्वीकार करती है; क्योंकि प्रस्ताव के बाद की घटनाओं ने इसका औचित्य अधिक सिद्ध किया है और यह स्पष्ट कर

दिया है कि भारत व मित्रराष्ट्रों के कार्य की सफलता के लिए भारत से अविलम्ब ब्रिटिश शासन का हटाया जाना आवश्यक है। इस शासन को जारी रखने से भारत निर्बल हो रहा है और वह दुनिया को स्वतंत्रता के कार्य में योग नहीं दे रहा है।

मित्रराष्ट्रों की नीति—"कमेटी रूसी और चीनी मोर्चों पर स्थिति के बिगड़ने को चिन्ता की दृष्टि से देखती है और अपनी आजादी की रक्षा के लिए रूसी व चीनी लोगों की वीरता की सराहना करती है। यह बढ़ता हुआ खतरा उन सब के लिए जो आजादी के लिए कोशिश करते हैं और आक्रमण-ग्रस्तों के साथ सहानुभूति रखते हैं, यह जरूरी कर देता है कि वे मित्रराष्ट्रों द्वारा बरती जा रही नीति के आधारों की परीक्षा करें, जिनके कारण बारबार और घातक पराजयों का मुंह देखना पड़ा है। इस प्रकार के उद्देश्यों और नीतियों तथा तरीकों का अनुसरण करने से उस असफलता को सफलता में नहीं बदला जा सकता, क्योंकि पिछले अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि उनमें असफलता की जड़ मौजूद है। इन नीतियों का आधार आजादी नहीं रहा है, बल्कि पराधीन और औपनिवेशिक देशों पर प्रभुत्व रखना और साम्राज्यवादी परम्परा और तरीकों को कायम रखना रहा है।

"साम्राज्य का कायम रहना शासक शक्ति की ताकत को बढ़ाने के बजाय एक बोझ और एक अभिशाप सिद्ध हुआ है। हिन्दुस्तान, जो कि आधुनिक साम्राज्यवाद का जीता-जागता नमूना है, इस समस्या का मुख्य बिन्दु बन गया है, क्योकि भारत की आजादी के आधार पर ही ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों की परीक्षा होगी और एशिया और अफ्रीका के लोगों में आशा और उत्साह का संचार होगा।

"इस प्रकार इस देश में अँग्रेजी राज्य को खत्म करने का सवाल एक महत्वपूर्ण और जरूरी सवाल है जिस पर युद्ध का भविष्य और आजादी तथा लोकतन्त्र की सफलता निर्भर करती है। आजाद भारत अपने महान साधनों को आजादी की, और नाजीवाद, फासिस्टवाद, और

साम्राज्यवाद विरोधी लड़ाई में झोंक कर उस विजय को निश्चित कर देगा। इसका न केवल भौतिक रूप से युद्ध के भविष्य पर असर पड़ेगा, बल्कि यह तमाम पराधीन और पीड़ित मानवता को मित्रराष्ट्रों के पक्ष में खड़ा कर देगा और वह इन राष्ट्रों को, जिनका भारत साथी होगा दुनिया का नैतिक और आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान कर देगा। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिह्न बना रहेगा और साम्राज्यवाद का कलंक तमाम मित्रराष्ट्रों के भविष्य पर असर डालेगा।

"अतः आज जो खतरा है वह भारत की आजादी और अँग्रेजी प्रभुत्व के अंत को जरूरी बना देता है। भविष्य के वायदों अथवा गारण्टियों से मौजूदा स्थिति पर असर नहीं पड़ सकता या उस खतरे का मुकाबिला नहीं किया जा सकता। उनसे जनता के दिलों पर जरूरी मनोवैज्ञानिक असर नहीं पड़ सकता। सिर्फ आजादी की चमक ही लाखों आदमियों की उस शक्ति और उत्साह को जाग्रत कर सकती है, जो फौरन युद्ध के स्वरूप को बदल डालेगी।

भारत की अस्थायी सरकार—"अतः अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अँग्रेजी सत्ता के हिन्दुस्तान से हट जाने की माँग को अपने पूरे जोर के साथ दुहराती है। भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा होने के बाद, एक अस्थायी सरकार बनाई जाएगी और आजाद भारत मित्र-राष्ट्रों का मित्र बन जाएगा और आजादी की लड़ाई के संयुक्त उद्योगों में उनकी मुसीबतों और कष्टों में हिस्सा बटाएगा। अस्थायी सरकार देश की मुख्य पार्टियों और दलों के सहयोग से ही बनाई जा सकती है। इस तरह वह संयुक्त सरकार होगी और वह भारत के सभी महत्वपूर्ण दलों की प्रतिनिधि होगी। उसका मुख्य काम होगा भारत की रक्षा करना और आक्रमण का मुकाबिला करना। वह मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग करती हुई अपनी तमाम सशस्त्र और अहिंसक शक्तियों से ऐसा करेगी। वह खेतों और कारखानों में तथा अन्यत्र काम करनेवाले मजदूरों की भलाई और तरक्की की कोशिश करेगी, जिनके हाथों में कि तमाम सत्ता और अधिकार

होने चाहिएँ। अस्थायी सरकार विधान-सम्मेलन की योजना बनाएगी, जो भारत सरकार का सब वर्गों का मान्य होनेवाला विधान बनाएगा। यह विधान, कांग्रेस के ख्याल के अनुसार संघात्मक होना चाहिए और वह उसमें शामिल होनेवाले प्रान्तीय अंगों को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देगा और अविशिष्ट अधिकार भी उन्हीं के हाथोंमें रहेंगे। मित्रराष्ट्रों और भारत के भावी सम्बन्ध को इन तमाम आजाद देशों के प्रतिनिधि अपने पारस्परिक लाभ और आक्रमण का प्रतिरोध करने के अपने समान कार्य की दृष्टि से तय करेंगे। आजादी भारत को आक्रमण का सफल प्रतिरोध करने के योग्य बनाएगी, क्योंकि जनता को संयुक्त इच्छा और शक्ति उसके पीछे होगी।

"*भारत की आज़ादी विदेशी गुलामी में पड़े हुए तमाम एशियाई राष्ट्रों की आज़ादी का चिह्न और पूर्व भूमिका होगी।* बर्मा, मलाया, इन्डोचीन, डच ईस्ट इन्डीज, ईरान और ईराक देशों को भी उनकी पूर्ण आजादी मिलनी चाहिए। यह साफ समझ लिया जाना चाहिए कि इनमें से जो देश इस समय जापान के आधीन हैं, उन्हें बाद में किसी दूसरी औपनिवेशिक ताकत के शासन या नियन्त्रण में नहीं रखा जाएगा।"

अजाद राष्ट्रों का विश्व-संघ—"इस खतरे की घड़ी में यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी मुख्यतः भारत की स्वाधीनता और रक्षा से सरोकार रखती है, कांग्रेस कमेटी की राय है कि *भावी शान्ति, सुरक्षा और संसार की व्यवस्थित तरक्की के लिये आज़ाद राष्ट्रों का विश्व-संघ कायम होना चाहिए। और किसी आधार पर आधुनिक दुनिया की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का विश्व-संघ उसके अंगभूत राष्ट्रों की आज़ादी को सुरक्षित कर देगा, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण और आक्रमण को रोकेगा, राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को संरक्षण देगा, पिछड़े हुए देशों और लोगों की तरक्की करेगा और सब के समान हित के लिए दुनिया के साधनों*

का संग्रह सम्भव बना देगा। इस प्रकार के विश्व-सङ्घ की स्थापना के बाद सब देशों में निशस्त्रीकरण सम्भव हो जायगा और विश्व-सङ्घ की रक्षा-सेना विश्व-शान्ति की रक्षा करेगी और आक्रमण को रोकेगी।

"आजाद भारत ऐसे विश्व-संघ में खुशी से शामिल होगा और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल करने में दूसरे देशों के साथ बराबरी के आधार पर सहयोग करेगा।

"ऐसे संघ के द्वार उन सब देशों के लिए खुले होने चाहिएँ, जो उसके मूलभूत सिद्धान्तों से सहमत हों। किन्तु युद्ध के कारण संघ शुरू में जरूरी तौर पर मित्रराष्ट्रों तक सीमित रहेगा। ऐसा कदम यदि इस समय उठाया गया तो उसका युद्ध पर, धुरी राष्ट्रों की जनता पर और आने वाली शान्ति पर जबरदस्त असर पड़ेगा।

किन्तु कमेटी अफसोस के साथ महसूस करती है कि युद्ध के दुखजनक और भारी परिणामों और दुनिया के सिर पर खतरों के मंडराने के बावजूद कुछ देशों की सरकारें अभी विश्व-संघ की दिशा में यह अनिवार्य कदम उठाने को तैयार नहीं हैं। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया और विदेशी अखबारों की गुमराह आलोचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की आजादी की सीधी सी माँग का भी विरोध किया जा रहा है, हालांकि मौजूदा खतरे का सामना करने और अपनी रक्षा करने के लिए हिन्दुस्तान को समर्थ बनाने और चीन तथा रूस को उनकी जरूरत की घड़ी में मदद पहुँचाने की दृष्टि से ही मुख्यतः इस माँग को पेश किया गया है। कमेटी चीन अथवा रूस की रक्षा में किसी तरह बाधा न डालने को उत्सुक है, क्योंकि इन देशों की आजादी बहुमूल्य है और उसकी रक्षा की जानी चाहिए, कमेटी मित्रराष्ट्रों की रक्षा-शक्ति में भी किसी तरह का विघ्न नहीं डालना चाहती। किन्तु भारत और मित्र-राष्ट्रों दोनों का खतरा बढ़ रहा है और इस मौके पर निष्क्रियता और विदेशी शासन-तन्त्र की अधीनता न केवल भारत को गिरा रही है और

अपनी रक्षा करने की और आक्रमण का मुकाबिला करने की उसकी शक्ति को घटा रही है; वह बढ़ते हुए खतरे का कोई जवाब नहीं है और मित्रराष्ट्रों की जनता की कोई सेवा नहीं है। ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों के नाम कार्य-समिति की हार्दिक अपील का अभी तक कोई अनुकूल जवाब नहीं मिला है और अनेक विदेशी हल्कों में जो आलोचना हुई है, वह भारत की और दुनिया की जरूरत का अज्ञान सूचित करती है। उससे कभी-कभी भारत की आजादी के विरोध की भी ध्वनि निकलती है, जो प्रभुत्व और जातीय श्रेष्ठता की मनोवृति प्रकट करती है; और, इसको एक स्वाभिमानी कौम, जिसे अपनी शक्ति और अपने उद्देश्य के औचित्य का ध्यान है, सहन नहीं कर सकती।

ब्रिटेन से फिर अपील—"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इस अन्तिम समय में विश्व-स्वतंत्रता के हितार्थ एक बार फिर ब्रिटेन व मित्र-राष्ट्रों के सामने यह अपील रखती है। लेकिन कमेटी महसूस करती है कि अब राष्ट्र को एक ऐसी साम्राज्यवादी सरकार के खिलाफ अपनी आवाज उठाने से अधिक रोकना न्यायसंगत नहीं है, जो उस पर प्रभुत्व जमाए हुए है और मानवता के हित के काम करने से रोके हुए है। इसलिए कमेटी भारत की स्वतन्त्रता व स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार करने के निमित्त एक बड़े पैमाने पर अहिंसात्मक सामूहिक आन्दोलन आरम्भ करने की इजाजत देती है, ताकि देश उस समस्त अहिंसात्मक शक्ति का उपयोग कर सके, जो उसने विगत २२ वर्षों के शांतिपूर्ण संग्राम में संचय की है। इस प्रकार का आन्दोलन महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलना चाहिए, अतः कमेटी गांधी जी से प्रार्थना करती है कि वह देश का पथ-प्रदर्शन करें।

'कमेटी भारतीय जनता से अपील करती है कि वह उन खतरों व मुसीबतों का उत्साह व सहिष्णुता के साथ सामना करे, जोकि उनके भाग्य में लिखे हैं और महात्मा गांधी के नेतृत्व के अधीन संगठित होकर भारतीय स्वतन्त्रता के अनुशासित सैनिकों की तरह उनकी

हिदायतों पर चले। उन्हें यह स्मरण रहे कि इस आन्दोलन का आधार अहिंसा है। एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब कि हिदायतों का जारी रखना या उनका हमारे लोगों के पास पहुँचना सम्भव न हो और कांग्रेस कमेटियाँ काम न कर सकें। जब ऐसा हो जाय तो इस आंदोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक स्त्री व पुरुष को स्वयं आम हिदायतों के अन्दर काम करना चाहिए। *प्रत्येक भारतीय को, जो स्वतन्त्रता चाहता है और इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, स्वयं अपना पथ-प्रदर्शक होना चाहिए और कठोर मार्ग पर, जहाँ कोई विश्राम करने की जगह नहीं है और जो अन्त में भारत की स्वतन्त्रता व मुक्ति पर ले जाता है, आगे बढ़ते रहना चाहिए।*

"अन्त में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि कमेटी एक सामूहिक संघर्ष आरम्भ करके अकेली कांग्रेस के लिए सत्ता प्राप्त करने का इरादा नहीं रखती। शासन-सत्ता, जब मिलेगी भारत के समस्त राष्ट्र के लिए होगी।"

'करो या मरो'; म० गांधी का मार्मिक भाषण—
इस ऐतिहासिक प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए म० गांधी ने जो मार्मिक भाषण दिया, उसका एक-एक शब्द अपना महत्व रखता है। वह एक हृदय से निकल कर लाखों हृदयों में पहुँचता था। इस आन्दोलन को अपने जीवन की अन्तिम लड़ाई बताते हुए अहिंसा के अद्भुत सेनानी ने कहा—*"इस संघर्ष में आप लोगों को सर्वस्व बलिदान देना होगा। बीवी, बच्चों, बंधु, मित्र सबसे सम्बन्ध तोड़ना होगा।...यह संघर्ष नमक बनाने की सुविधाएँ लेने या शराबबन्दी के लिए नहीं है। अब तो मैं एक ही चीज लेने जा रहा हूँ, और वह है आजादी। मैं वह गांधी नहीं, जो कुछ चीज लेकर बीच में से लौट आएगा। आपको तो मैं एक मंत्र 'करो या मरो' का दे रहा हूँ। जेल को आप भूल जायँ। आप सदा यह याद रखें कि मैं खाता हूँ, पीता हूँ, साँस लेता हूँ तो सिर्फ इस लिए कि, मुझे गुलामी की ज़ंजीर तोड़नी*

है। मरना जाननेवालों ने ही जीने की कला सीखी है। आजादी डरपोकों के लिए नहीं। जिनमें करने की हिम्मत है, वही जिन्दा रह सकते हैं।"

अखबार वालों से महात्मा जी ने निर्भयता से काम लेने की, और ऐसा न कर सकने की दशा में अखबार बन्द कर देने की अपील की। राजाओं के विषय में आपने कहा—"राजा लोग प्रजा से कहदें कि राज तुम्हारी मिलकियत है। प्रजा उनको दोनों हाथों पर उठा लेगी। तब राजा और वंश-परम्परा दोनों रह जायंगीं। आप गुलामी में न रहें। हिन्दुस्तानियों की सल्तनत में रहें। पोलिटिकल डिपार्टमेंट को लिखदें कि खल्कत मर गई तो हम कहाँ रहेंगे।"

सरकारी जजों, सिपाहियों, अफसरों प्रोफेसरों आदि से आपने कहा कि "साफ-साफ कहदो कि हम कांग्रेस के आदमी हैं। हम पेट के लिए काम करते हैं, पर आदमी तो कांग्रेस के ही हैं।"

अन्त में आपने कहा—*"कांग्रेस से मैंने आज यह बाजी लगवाई है कि वह या तो देश को आजाद करेगी अथवा खुद फ़ना हो जायगी। 'करो या मरो' हमारा मूल मंत्र होगा।"*

संसार के स्वाधीनता-आन्दोलनों में इस प्रस्ताव की विशेषता—संसार के विविध देशों में समय-समय पर स्वाधीनता आन्दोलन होते रहे हैं, और उनमें भाग लेने वालों ने तरह-तरह की घोषणाएँ और प्रस्ताव भी किए हैं। परन्तु उनमें हमारे इस ८ अगस्त १६४२ के प्रस्ताव का एक खास स्थान है। इसमें देश के लिए 'करो या मरो' का आदेश था, मारने-काटने का नहीं। फिर, इसमें अपनी आजादी की बात अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कही गई है, संसार भर से साम्राज्यवाद उठाए जाने का आग्रह किया गया है, इसमें सभी पराधीन, पीड़ित और शोषित जनताओं के उद्धार और विश्व-संघ के निर्माण की भावना है।

श्री० सिरिल मोड़क ने अपनी 'आजादी किस कीमत पर' पुस्तक में ठीक ही लिखा है—'इतिहास में इस प्रस्ताव से शानदार दूसरी चीज़

देखने को नहीं मिलती। यह अपने ढंग का पहला प्रस्ताव है, जिसमें एक गुलाम देश ने अपने आज़ाद होने की अभिलाषा प्रकट करते हुए उसी सांस में, बर्बर आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में वीरतापूर्ण बलिदान देनेवाले, दूसरे संघर्षरत विदेशी राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति की घोषणा भी की है। न तो रोमन आधिपत्य के समय के ब्रिटेन में, न ब्रिटिश-शासित अमरीका-काल में ही इतिहास में कोई ऐसा प्रस्ताव अंकित किया गया; क्योंकि न तो उस समय के ब्रिटेन में, न अमरीका में ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को देखकर चलने वाला कोई जवाहरलाल था, न नैतिक महानता पर जोर देनेवाला कोई मोहनदास कर्मचन्द गांधी। जवाहरलाल द्वारा बनाए गए अ० भा० कांग्रेस कमेटी के इस प्रस्ताव को हर जगह की गुलाम जनता पढ़ेगी और ज़बानी याद करेगी और आनेवाली पीढ़ियों को वीरतापूर्ण दृढ़ निश्चय और निर्भयता की अभिव्यक्ति के रूप में बताएगी; क्योंकि यह याद रखना चाहिए कि जिस कमेटी ने यह प्रभावशाली प्रस्ताव पास किया था, उसके पास न बन्दूकें थीं, न टैंक, न बममार हवाई जहाज़, न सेना, न पुलिस जिनसे वह अपनी रक्षा करती। वे एक मुट्ठी भर आदमी थे—मोटा खद्दर पहननेवाले साधारण स्त्री-पुरुष, लेकिन जो उस गर्वीली जाति के थे, जो अपनी माँग और उद्देश्य की न्यायोचितता के प्रति जागरुक थे।'

इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया—मित्रराष्ट्रों और साम्राज्यवादी विचारधारा वालों से यह आशा नहीं हो सकती थी कि वे ऐसे प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार करें, और आत्म-निरीक्षण का परिचय दें। प्रायः उन्होंने इसकी उपेक्षा ही की। उन्हें आश्चर्य था कि इतनी मुद्दत तक हमारी अधीनता में रहनेवाला, साम्प्रदायिक फूट, गरीबी और अविद्या का शिकार बनाया गया भारत ऐसे प्रस्ताव का साहस कैसे कर सकता है। कुछ मज़दूर दल के तथा समाजवादी अँगरेजों ने अवश्य कांग्रेस की इस मांग को उचित ठहराया, पर नक्कारखाने में तूती की आवाज कहाँ सुनी जाती है! सरकार के पिट्ठुओं ने कांग्रेस के फासिस्ट-

पत्नीय, और म० गांधी को जापान का एजन्ट कह कर इंगलैंड और अमरीका में खूब बदनाम किया।

सरकार की जल्दबाजी; नेताओं की गिरफ्तारी—

अस्तु, हमें तो खास विचार इस बात का करना है कि भारत सरकार ने इस प्रस्ताव के प्रति कैसी भावना प्रदर्शित की। वह दमन तो हमेशा ही करती रही थी, पर इस बार पहले से ही अपने अस्त्रों का उपयोग करने को उतावली हो रही थी। आठ अगस्त को कांग्रेस ने 'करो या मरो' प्रस्ताव ही पास किया था। अगले दिन वह कुछ कार्यक्रम बनाने वाली थी। महात्मा जी वायसराय से मिलनेवाले थे। इस प्रकार एक बार विचार-विनिमय होता और समझौता न होता तो भी महात्मा जी धैर्य-पूर्वक आन्दोलन आरम्भ करते। परन्तु सरकार ने ऐसा करने ही न दिया। अगले दिन ता० ६ अगस्त के सवेरे ही नेताओं की गिरफ्तारी करके उसने संघर्ष को एकदम आमंत्रित कर दिया। सम्भवतः वह संघर्ष को आमंत्रित करना नहीं चाहती थी। वह यही सोचती होगी कि नेताओं से वंचित होने पर जनता कुछ करे-धरेगी नहीं। पर सरकार की जल्दबाजी और अंधे दमन का परिणाम दूसरा ही हुआ। जनता पर म० गांधी आदि का जो सौम्य तथा प्रभावकारी नियंत्रण था, वह न रहा। उसे अपना कार्यक्रम स्वयं स्थिर करना पड़ा।

जनता पर प्रतिक्रिया—जनता में निराशा थी, क्षोभ था, बेचैनी थी। तथापि स्वयं सरकारी विवरण (टाटनहम-रिपोर्ट) के अनुसार 'नेताओं की गिरफ्तारी के बाद की पहली प्रतिक्रिया आश्चर्यजनक रूप से शान्ति पूर्ण थी।' रिपोर्ट में कहा गया कि '६ अगस्त को बम्बई, पूना और अहमदाबाद में उपद्रव हुए, लेकिन बाकी हिन्दुस्तान में शान्ति रही। १० अगस्त को दिल्ली में और संयुक्तप्रान्त के कुछ नगरों में भी उपद्रव हुए लेकिन किसी गम्भीर घटना की खबर तक नहीं आई थी।' इससे स्पष्ट है कि जनता पर म० गांधी का अच्छा प्रभाव था, और उसमें अहिंसात्मक रहने की भावना थी। परन्तु जब पुलिस ने

उसके शान्ति-पूर्ण प्रदर्शनों और जलूसों को भंग करने के लिए लाठी-प्रहार और अश्रुगैस आदि हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन लिया तो जनता का दबा हुआ क्रोध उफन पड़ा। वह आपे से बाहर हो गई। उसने इस अवसर पर कुछ कर डालने का निश्चय किया। वह करने या मरने के लिए उतर पड़ी।

इस आन्दोलन की विशेषता— इस आन्दोलन का संचालन किसी संस्था या व्यक्ति विशेष के नेतृत्व में न होकर स्वयं जनता द्वारा हुआ था। जो राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता जेल नहीं पहुँचे या नहीं पहुँचाए जा सके, उन्होंने इसमें सहायता अवश्य दी, तथापि उनपर इसके नेतृत्व या संचालन का उत्तरदायित्व डालना भारी भूल है।

यह जनता का खुला विद्रोह था। इसका उद्देश्य जेलों को भर कर सिर्फ सरकार को परेशान करना ही नहीं था। यह केवल लोगों के हृदयों से पुलिस और फौज का भय निकालने का प्रयत्न नहीं था। इसमें केवल आजादी की भावना बढ़ाने की बात नहीं थी। इन बातों को जनता पीछे छोड़ आई थी। वह अब आगे बढ़ गई थी। अब तो आजादी प्राप्त करने की मंजिल थी, इसके लिए यदि गिरफ़्तारी, लाठियों के प्रहार, गोलियों की वर्षा अथवा और जो-कुछ भी आवे, उसका कोई अफसोस नहीं था, पर ख्वाहमख्वाह इनका स्वागत भी नहीं करना था। यही नहीं, अगर पुलिस को चकमा देकर जेल के पहरेदारों की आँखों में धूल डालकर किसी भी तरह सरकार की निगाह बचाकर सरकार की सत्ता के गढ़ों पर अधिकार जमाया जा सकता था तो उसके लिए कोई कसर नहीं रखी जाती थी। थानों, चौकियों, सरकारी खजानों, रेलवे स्टेशनों, अदालतों, सरकारी दफ़्तरों—जहाँ भी सम्भव हो विदेशी प्रभुता का अन्त करके अपनी सत्ता स्थापित करना, यह सब आन्दोलन के अन्तर्गत था। इन कार्यों में अनेक स्थानों में विलक्षण सफलता मिली, भले ही वह अस्थायी या थोड़े समय की रही। जगह-जगह लोगों को यह आभास मिल गया कि अँगरेजी शासन का अन्त किया गया है।

निहत्थी और नेता-विहीन जनता के इन कार्यों से अधिकारी चकित हो गए। इससे जनता को भी अपनी शक्ति का परिचय मिला, और उसमें आत्म-विश्वास की प्रबल लहर दौड़ गई।

कुछ घटनाओं की झलक; प्रान्तों में--देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में गांवों में, शहरों में, ब्रिटिश भारत में, और देशी राज्यों में इस समय जो विविध घटनाएँ हुईं उनके खुलासा वर्णन की न यहाँ विशेष आवश्यकता ही है और न उसके लिए हमारी क्षमता ही है। इसकी कुछ झलक पाठकों को मिल जाय, इसी विनम्र हेतु से कुछ बातें यहाँ संकलित की गई हैं।

पहले बम्बई की बात लीजिए, जो आठ अगस्त के प्रस्ताव की शंखध्वनि का आदि श्रोत था। क्रान्तिकारी भावनाओं की स्वामिनि श्रीमती अरुणा आसफअली ने यहाँ गवालियर टैंक मैदान में साहस और वीरता पूर्वक राष्ट्रीय झंडा फहराया। शहर में खूब लाठी-चार्ज, अश्रुगैस और गोलावारी के कांड हुए। तो भी स्थान-स्थान पर 'अंगरेजो ! भारत छोड़ो ! और 'भारतवासी ! करो या मरो।' लिखा गया। डाकखानों का जलाना, तार और टेलीफोन के तारों का काटना रेल की पटरी उखाड़ना यहाँ से ही प्रारम्भ हुआ। सर्वश्री अच्युत पटवर्द्धन, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और श्रीमती अरूणा आसफअली ने गुप्त रूप से आन्दोलन यहाँ ही आरम्भ किया, और स्वतंत्र रेडियो का श्रीगणेश भी यहाँ से ही हुआ।

संयुक्तप्रान्त में बलिया ने खूब नाम पाया। चित्तू पांडे साधारण आदमी था, पर इस आन्दोलन में उसने बलिया को अमर बना दिया। जेल से छूटने पर उसने बलिया में स्वराज्य-सरकार कायम कर दिखाई; पुलिस, थाना, अदालत, खजाना—सब स्वराज्य-सरकार के अधीन था। लोगों को लूटमार, चोरी-डकैती तथा तोड़-फोड़ के कामों से हटाया गया और सर्व साधारण के जानमाल की रक्षा की। जनता की सफलता पर अँगरेज सरकार के एजंट आग-बबूला हो गए। उन्हों ने

गांवों की झोपड़ियाँ नष्ट कर दीं, घरों में आग लगादी, गोली चलाकर सैकड़ों आदमियों को मौत के घाट उतारा और स्त्रियों की बेइज्जती की।

गाजीपुर में भी जनता की सरकार स्थापित होने का दृश्य देखने में आया। इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर और आगरा आदि में विद्यार्थियों ने आन्दोलन में अच्छी आहूतियाँ प्रदान कीं।

बिहार कब पीछे रहनेवाला था। यहाँ अनेक सरकारी संस्थाओं पर राष्ट्रीय झंडा फहराया गया। हजारीबाग जेल से श्री जयप्रकाश नारायण आदि का जेल से निकलना एक चमत्कारिक घटना थी। जय बाबू ने नेपाल की तराई में एक 'आजाद हिन्द' दल बनाकर जगह-जगह गुप्त आन्दोलन की लहर बढ़ाई। इस प्रान्त में तोड़-फोड़ का काम इतने बड़े पैमाने पर हुआ कि बहुत समय तक यहाँ रेलों का आना-जाना बन्द रहा और बिहार, देश के अन्य भागों से कटा सा रहा।

बंगाल ने भी इस आन्दोलन के इतिहास को कुछ गौरवपूर्ण पृष्ठ प्रदान किए। हमें यहाँ इतना ही उल्लेख करना है कि मिदनापुर की ग्रामीण जनता ने आजाद प्रजातंत्र की स्थापना करके अपने रचनात्मक कौशल का परिचय दिया। आजाद प्रजातंत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गांव में पंचायतें कायम की गईं। अपनी अदालतें, जेल, थाने और दफ्तर खोले गए। सेना का भी निर्माण किया गया, उसमें तीन विभाग थे—युद्ध, समाचार, और सहायता। सहायता विभाग में डाक्टर, कम्पाउंडर, और सेवा-सुश्रुषा करनेवाले भी शामिल थे। यातायात विभाग भी इस सेना के साथ था। यह योजना 'केन्द्रीय राष्ट्रीय संघ' का आदर्श सामने रख कर बनाई गई। इसके सर्वाधिकारी सर्वश्री सतीशचन्द्र, अजयकुमार मुकर्जी, सतीशचन्द्र साहू, और बरदाकान्त कुटी क्रमशः नियुक्त किए गए थे।

पंजाब में कांग्रेस का संगठन दृढ़ न होने के कारण आन्दोलन कुछ जोर न पकड़ सका। उसे छोड़ कर यह आन्दोलन थोड़े-बहुत भेद से सभी प्रान्तों में हुआ। सीमा-प्रान्त में खुदाई खिदमतगारों के कारण

उसका रूप अहिन्सात्मक रहा।

देशी राज्यों में—जुलाई १९४२ में म० गांधी ने राजाओं को भी अपना सन्देश दिया था। पीछे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बम्बई-बैठक के अवसर पर महात्मा जी ने रियासतों के प्रजामण्डलों के अध्यक्षों की बैठक बुलाई और प्रजामण्डलों को यह राय दी कि वे अपने राजा-महाराजाओं को पत्र भेज कर निवेदन करें कि वे अँगरेजी राज से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर दें। बहुत से प्रजामण्डलों ने कांग्रेस के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाया। उन्होंने 'भारत-छोड़ो' नारा लगाया और अपने शासकों को सम्राट् से नाता तोड़ने और उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए कहा। इसके जवाब में प्रायः राजाओं ने जी खोलकर दमन ही किया। पर जनता की बात दूसरी रही। 'मध्यभारत की रियासतों में आन्दोलन बड़ी तीव्र गति से फैला और भरतपुर, कोटा, इन्दौर, गवालियर, रतलाम और बड़ौदा आदि में हड़तालें हुईं, विरोध-प्रदर्शन हुए, सरकारी सत्ता पर आक्रमण हुए। दक्षिण भारत की रियासतों में भी इसकी लपटें फैलीं और विशेषकर मैसूर में तो उसकी गतिविधि बहुत ही बढ़ी-चढ़ी रही। यहाँ पर जनता ने सरकारी राजसत्ता पर प्रहार कर कब्जा करने के सफल व असफल प्रयत्न किए। उधर उड़ीसा और महाराष्ट्र की देशी रियासतों में शोले उठे। निस्सन्देह देशी रियासतों में जो आन्दोलन हुआ, उसका श्रेय वहाँ के प्रजामंडलों को है, जिन्होंने राज्य में जागृति व बेचैनी पैदा कर दी थी। इस कारण इस आन्दोलन की बाह्य गति के समाप्त होते ही सारी रियासतों में प्रजामंडलों का सङ्गठन और सम्मान बढ़ा और प्रायः राजाओं ने अपने प्रजामंडलों से किसी-न-किसी प्रकार समझौता करने की चेष्टा की।'*

कुछ अलग-अलग रियासतों के आन्दोलन का परिचय हमारी 'देशी राज्यों की जनजागृति' में ब्योरेवार दिया गया है। अनेक स्थानों में

* 'सन् बयालीस का विद्रोह' (ले०—श्री गोविन्दसहाय एम० एल० ए०)।

जनता ने अपनी सरकार कायम कर दिखाई, भले ही वह बहुत समय तक टिक न सकी। कोटा के सम्बन्ध में श्री इन्द्रदत्त जी 'स्वाधीन' को ये पंक्तियाँ ध्यान में रखने योग्य हैं ? 'बिना तैयारी, कार्यक्रम, भारी नेतृत्व, और इच्छा के ही यह (जनता का) शासन तीन दिन तक चलता रहा। जनता ने उस समय काम-चलाऊ शासन के पदाधिकारी अपने आप चुन लिए थे। राष्ट्रीय झंडा बड़ी कोतवाली पर लगा दिया गया था। उसका नाम कांग्रेस-भवन रखा गया था। पुलिस के तमाम बड़े-बड़े अफसर गिरफ्तार कर लिए गए थे। शहर पर कोटा नरेश को अधिकार वापिस देने के पहले समुचित संधि हुई थी। वह घटना सरकार के इतिहास में अंकित हो चुकी है। उन गौरवपूर्ण दिनों में सरकारी फौज और पुलिस ने राष्ट्रीय तिरंगे झंडे को सलामी करने के बाद ही अपना शासन कोटा शहर में पुनः स्थापित कर पाया था।'

अस्तु, यहाँ हमें घटनाओं का आभास मात्र देकर अन्य बातों का विचार करना है।

'कांग्रेस-बुलेटिन'—सरकार ने अपनी शक्ति भर इस बात का कड़ा प्रबन्ध किया था कि आन्दोलन के समाचार जनता को न मिलें। तो भी टाइप किए हुए या साइक्लोस्टाइल से छपे हुए हजारों अखबार शहरों में जहाँ-तहाँ गुप-चुप बटते रहे। इनमें दूर-दूर स्थानों में चलने-वाले आन्दोलन के समाचार और कार्यकर्ताओं के वक्तव्य आदि होते थे। यद्यपि कांग्रेस इस समय अधिकृत रूप से काम नहीं कर रही थी, ये अखबार प्रायः उसके ही नाम से प्रचारित किए जाते थे, और 'कांग्रेस बुलेटिन' आदि कहे जाते थे। उदाहरणवत् पहली सितम्बर को छपी हुई एक 'कांग्रेस बुलेटिन' इस प्रकार थी—ऊपर के अंश संपादकीय और आलोचना के तौर पर, और बाद में समाचार :—

"चारों ओर आग पूरे जोर से धधक रही है। एक जगह की लपटें दूसरे न देख सकें, उसकी भरसक कोशिश के बावजूद भी, अखबारी स्वतंत्रता का गला घोंट देने के पश्चात् भी कुछ-न-कुछ रोज मालुम हो

ही जाता है। तार कटे, रेल टूटी, गोलीचली, आदमी मरे आदि। लेकिन ज़रा अपनी ओर तो देखिए। इलाहाबाद का क्या हाल होता जा रहा है? कई गाड़ियां फिर से चलने लगीं, तारघर पर भी लोग दिखाई पड़ते हैं, टेलीफोन फिर काम-लायक हो गए, कई स्कूलों में भी शान्ति-पूर्वक काम चलाए जाने का ढोंग होने लगा है। दूकानें भी खुली दीखती हैं। हम पूछते हैं, यह सब क्या है? क्या इलाहाबाद का बच्चा-बच्चा इसके लिए जिम्मेदार नहीं है? सोचिए पहला कदम उठा देने के बाद इस तरह की चुप्पी कहाँ ले जायगी आपको और आपके प्यारे वतन को! कुछ दिन दूकानें बन्द रखने या मामूली सी तोड़-फोड़ कर देने भर से हो आपकी ड्यूटी पूरी नहीं हो गई। हरेक के ऊपर देश की आज़ादी की जिम्मेदारी है। यदि जिन्दा रहना है, अपनी माँ-बहिनों को आंखों के सामने बेइज्जत नहीं होने देना है तो चुप रहने से काम न चलेगा। इस आखिरी लड़ाई को कामयाब बनाना ही होगा। फौज देहातों में फैली है, इससे अच्छा मौका कब पाओगे?

"अपने कुछ भाइयों को गोलो का निशाना बनाना भर ही विद्यार्थियों के लिए काफी नहीं है। वह इस क्रांन्ति के नेता हैं, अगुवा हैं। कई तो देहातों में जाकर जी-जान से कोशिश कर ही रहे हैं, लेकिन शहर में रहनेवाले विद्यार्थियों का भी कुछ फर्ज है। स्कूलों में जाना विश्वासघात होगा, देश के साथ और अपने दूसरे भाइयों के साथ। एक भी स्कूल न खुलने पावे, स्कूली किताबों में फंस कर क्रान्ति के उस महान पाठ को न भूल जाइए जो कई बहादुरों ने सीने में गोली खाकर हम सब लोगों को पढ़ाया है। याद रखिए यदि थोड़ी सी भी लापरवाही आपने की तो सन् ५७ और जलियांवाला बाग के कांड तैयार हैं। तब तो दमन से कोई भी न बचेगा, चाहे उसने आन्दोलन में भाग लिया हो या न लिया हो। इसका तो एक ही उपाय है कि सब मिलकर पूरे ज़ोर से फौरन ही उसका खात्मा कर डालिए।' इसके आगे खासकर आन्दोलन सम्बन्धी मुख्य-मुख्य समाचार दिए गए थे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन बुलेटिनों की भाषा कितनी ओजमय और स्फूर्तिदायक होती थी। जिन लोगों ने घोर सरकारी आतंक होते हुए भी इनकी योजना और व्यवस्था की, उनके साहस का विचार कीजिए।

कांग्रेस की जिम्मेवारी; महात्मा जी का पत्र-व्यवहार और अनशन—जनता के जिस साहस, त्याग और बलिदान की भावना का परिचय इस आन्दोलन में मिला, वह अवश्य ही कांग्रेस के खासकर पिछले बाईस वर्ष के लगातार प्रयत्नों का फल था। आन्दोलन को अन्तिम प्रेरणा कांग्रेस के ही प्रस्ताव से मिली थी। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस समय जो कुछ हुआ वह सब अहिन्सात्मक नहीं था। पर इसके लिए कांग्रेस जिम्मेवार नहीं थी। उसका कार्य तो इस समय सरकार ने बन्द ही कर रखा था। तो भी सरकार ने कांग्रेस को दोषी ठहराया और एक पुस्तक प्रकाशित की—'अगस्त १९४२ के दंगों के लिए कांग्रेस की जिम्मेवारी'। इसका खुलासा उत्तर देते हुए म० गांधी ने जेल से लिखा कि मैंने या किसी कांग्रेस-नेता ने हिंसा का कभी विचार नहीं किया, मैंने जन-आन्दोलन आरम्भ नहीं किया; मेरा विचार सरकार से समझौते की बात चलाने का था। उपद्रव गिरफ्तारियोंके बाद हुए, उनका कारण गिरफ्तारियाँ ही थीं। अगर सरकार का मत इसके विपरीत है तो वह इस बात का एक निष्पक्ष अदालत से विचार कराए।

इस प्रसंग में तत्कालीन वायसराय (लार्ड लिनलिथगो) और म० गांधी में जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह छः माह तक चलता रहा था। महात्मा जी ने सरकार की पाशविक हिंसा की निन्दा किए बिना जनता के हिंसात्मक कार्यों की निन्दा करना स्वीकार नहीं किया। और, जब उनके काफी प्रयत्न के बाद भी वायसराय ने उनकी बात पर विश्वास प्रकट करना अपनी शान के खिलाफ समझा तो महात्मा जी ने अपने, और प्रत्येक सत्याग्रही के, अन्तिम अस्त्र—अनशन—का उपयोग किया।

अनशन २१ दिन का था। संसार भर के चिन्तनशील व्यतियों में कैसी हलचल मच गई, वायसराय की कौंसिल के तीन सदस्यों ने किस प्रकार त्याग-पत्र देकर महात्मा जी की रिहाई की माँग की, महात्मा की परिचर्या में लगे हुए डाक्टरों ने किस प्रकार उनके जीवन के विषय में अपनी हार्दिक चिन्ता प्रकट की, और आखिर में महात्मा जी के प्राण किस प्रकार शरीर-विज्ञान को भी चुनौती सी देते हुए चमत्कारिक ढंग से बचे रह गए—इन बातों के विस्तार में न जाकर हमें अब देखना है कि जो सरकार इस आन्दोलन के लिए कांग्रेस को दोषी ठहराते हुए नहीं अघाई, उसने इस समय कैसा व्यवहार--दुर्व्यवहार और अत्याचार—किया।

सरकार का अत्याचार--जिस प्रकार भारतीय जनता अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए 'करो या मरो' की दीक्षा लिए हुए थी, उसी प्रकार अँगरेज सरकार भी अपने बपौती समझे जाने वाले निहित स्वार्थों, अपनी हुकूमत, और अपने साम्राज्यवाद की रक्षा में जी-तोड़ परिश्रम करने पर तुली हुई थी, वह इसमें किसी प्रकार की कमी कैसे रखती! क्या ब्रिटिश सरकार रत्नगर्भा शस्य-श्यामला भारत भूमि को सहज ही छोड़ दे, और अपने विशाल साम्राज्य पर—जिसकी नींव क्लाइव और हेस्टिंग्स जैसे 'दैवी' पुरुषों ने डाली थी, और जिसका निर्माण वेलज़ली और डलहौजी सरीखे 'महापुरुषों' ने किया था—सहज ही सूर्यास्त हो जाने दे! निदान, उसने आन्दोलनकारियों को उनके किए का मजा चखाने का बीड़ा उठाया।

इस समय आन्दोलनकारी कोई खास एक या अधिक नेता न होकर जनता ही थी। इसलिए सरकार ने जनता से शत्रु का सा व्यवहार किया और जी खोलकर बदला लिया। उसने अंधाधुंध दमन किया। अनेक स्थानों में जन-समूह पर गोलियाँ चलाई गईं; कितने ही बच्चे, युवक और स्त्रियाँ मौत के घाट उतारी गईं। गाँव-के-गाँव जला दिए गए, जनता पर कई जगह सामूहिक जुर्माने किए गए; कितने ही आदमियों का

माल-असबाब नीलाम कर दिया गया। नागरिक स्वतंत्रता छीन ली गई। समाचार-पत्रों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए गए।

रचनात्मक कार्यों का विध्वंस—सरकार ने इस समय कैसे अंधेपन से काम किया, इसका कुछ परिचय इस बात से मिलता है कि वह अनेक स्थानों पर चर्खा-संघ जैसी लोकहित के सर्वथा निर्दोष और ठोस सेवा कार्य करनेवाली संस्थाओं को भी अपने दमन का शिकार बनाए बिना न रही। उसने उन पर भी धावा बोला। खादी तो आजादी चाहनेवालों की खास वस्तु थी, इससे वह चिढ़ी बैठी थी। अब मौका हाथ आया देख कर उसने खादी भंडारों को लुटवा दिया और जलवा दिया! देश में इस समय वैसे ही कपड़े की कमी थी। अनेक आदमियों को अपना तन ढकने और सर्दी से बचने को कपड़ा नहीं मिल रहा था, स्त्रियों को अपनी लज्जा निवारण की चिन्ता थी। ऐसी दशा में सरकार ने—जिसे आवश्यक कपड़े की व्यवस्था करना चाहिए था—खादी भंडारों को नष्ट करके कैसी मनोवृत्ति का परिचय दिया, यह पाठक स्वयं सोचलें।

स्त्रियों पर बलात्कार— सरकार इस समय कितनी नीचता पर उतर आई थी, यह इसी बात से स्पष्ट हो जायगा कि इस समय कितने ही स्थानों पर स्त्रियों पर—रजस्वला और गर्भवती स्त्रियों तक पर—बलात्कार हुआ। इस विषय की घटनाओं का ब्यौरा देना अभीष्ट नहीं है। चिमूर-कांड तो सर्वविदित ही है। चिमूर मध्यप्रान्त में चांदा जिले का गांव है। यहाँ जब स्त्रियाँ और बच्चे तक गोलियों के शिकार बनाए गए तो आदमी पुलिस पर टूट पड़े और उन्होंने चार-पांच अफसरों तथा पुलिसवालों को मार डाला। इस पर जिला-मजिस्ट्रेट ने गोरी तथा हिन्दुस्तानी फौज को लेकर चिमूर पर धावा किया। खूब लूट-मार की गई। कितने ही आदमी मारे गए; कुछ आदमी भाग गए थे; शेष प्रौढ़ पुरुष गिरफ्तार किए गए। स्त्रियों पर बलात्कार किया गया। चिमूर पर घेरा पड़ा रहने से बाहर की दुनिया को कितने ही दिन तक

यहां का समाचार नहीं मिल पाया।

चिमूर-कांड के सम्बन्ध में श्रीमती अनुसूया बाई काले के नेतृत्व में स्वयं महिलाओं ने ही यह रिपोर्ट दी थी कि 'लूट-मार और तहस-नहस के साथ-साथ स्त्रियों पर बलात्कार भी किया गया।' इससे इसके सच होने में कोई सन्देह नहीं रहता। सहृदय प्रो० भंसाली इस अत्याचार की जाँच की जाने की बात कहने के लिए भारत-सरकार के एक सदस्य श्री० अणे के पास पहुँचे, पर उनकी बात अस्वीकार कर दी गई। इस पर प्रो० भंसाली ने अपनी जान पर बाजी लगा कर बासठ दिन तक अनशन किया। तरेसठवें दिन जाकर मध्यप्रान्तीय सरकार ने चिमूर में बाहर के लोगों को जाने की इजाजत दी, और समाचारों के प्रकाशन से भी रोक हटाई। चिमूर के मामले में कई आदमियों को फाँसी की सजादी गई थी, परन्तु इसके विरुद्ध देश-व्यापी आन्दोलन होने से प्राण-दंड की जगह आजन्म कारावास किया गया।

आन्दोलन का परिणाम; चिन्ताजनक पहलू— कौन-जाने सन् १९४२ की आज़ादी की माँग के फल-स्वरूप देश में कुल मिला कर कितने अनाचार और अत्याचार हुए। प्रो० भंसाली के त्याग की भावना ने एक चिमूर-कांड को प्रकाश में लादिया, ऐसे सब कांडों को प्रकाश में लाने के लिए कितने ही भंसालियों की आवश्यकता थी। पर जितना कुछ प्रकाश में आया वह सरकार को कलंकित करने के लिए कम नहीं।

और यह तो एक ही बात थी। इसके साथ सरकार द्वारा हमें दूसरा भी उपहार मिला। आन्दोलन में कितने आदमी मरे, कितनों की सम्पत्ति नष्ट हुई, और कितनों को अन्य कष्ट सहने पड़े; इसका हिसाब ही कहाँ है। एक सरकारी विज्ञति में बताया गया था कि १९४२ के आन्दोलन में १,०२८ व्यक्ति मरे और ३,२०० घायल हुए। किन्तु पं० जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार यह आँकड़े निश्चय ही कम करके बताए गए थे। क्योंकि सरकारी विज्ञति में ही बताया गया था कि उस आन्दोलन में कम-

से-कम ५३८ स्थानों पर गोली चलाई गई। इसके अतिरिक्त चलती हुई लारियों या गश्त करते सिपाहियों द्वारा भी गोली चली। एकदम ठीक आँकड़ों तक पहुँचना कठिन है। मृत व्यक्तियों की संख्या, नेहरू जी के अनुमान से, १०,००० के लगभग होगी। श्री एमरी की घोषणा के अनुसार इस आन्दोलन में ६० लाख रुपए का सामूहिक जुर्माना भी हमारे देश की दरिद्र, पीड़ित जनता पर लगाया गया। इसमें ७८,५०,००० रुपए वसूल किए गए।

आह! हमने आजादी के आन्दोलन में क्या-क्या नहीं खोया! पर व्यापक दृष्टि से देखें तो यह तो आजादी की बहुत साधारण सी भेंट है। संसार के इतिहास में किसी देश या जाति को आजादी सहजही नहीं मिल पाई। उसके लिए एक-से-एक अधिक मूल्यवान बलिदान किए गए हैं—और न-मालूम कब तक मनुष्य जाति ऐसी अभागी बनी रहेगी कि ऐसी बातों की कहीं-न-कहीं पुनरावृत्ति होती रहे।

दूसरा पक्ष—ऊपर इस आन्दोलन का जो परिणाम दिखाया गया है, वह काफी चिन्ताजनक था। परन्तु आजादी की चाहवाला कोई देश ऐसी बातों से अनुत्साहित हो बैठे, यह कैसे हो सकता है। फिर, ऊपर आन्दोलन के केवल तात्कालिक परिणाम पर ही नज़र डाली गई है। इसका दीर्घकालिक परिणाम दूसरे ही प्रकार का हुआ। जनता के देश-प्रेम की परीक्षा तो पहले भी हुई थी, पर बिना नेता के भी वह कहाँ तक आगे बढ़ सकती है, और अपनी लड़ाई जारी रख सकती है इसका परिचय सरकार को इसी बार दिया गया। स्वयंहमारे ही आदमियों को यह भरोसा न था कि अवसर आपड़ने पर जनता स्वयं अपना नेतृत्व कर लेगी, वह कुछ खास नेताओं के आसरे न रहकर आवश्यकतानुसार झटपट नए नेताओं को फूल-माला नहीं, कांटों का ताज पहना देगी, और ये नए नेता भी अपने उत्तरदायित्व को निभाने में निरे रंगरूट न रह कर अपनी प्रतिभा और गम्भीरता का यथेष्ट परिचय दे सकेंगे। अस्तु अब जनता, हमारे नेताओं, तथा सरकार को राष्ट्र की इस विकसित

शक्ति का ज्ञान हो गया। कार्य करने की, प्रस्तुत समस्याओं को सुलझाने की ओर जल्दी-से-जल्दी किसी निर्णय पर पहुँचने की स्फूर्ति मिल गई। दूसरी ओर यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने तेज-तर्रार कार्रवाई करके यह दिखाया कि वह ऐसे आन्दोलन को सहज ही दबा सकती है, वह यह अनुभव किए बिना न रही कि घातक-से-घातक अस्त्रों का प्रयोग करके भी वह जनता के ऐसे देश-प्रेम की भावना को अधिक समय तक नहीं दबा सकती, जैसो इस आन्दोलन में व्यक्त हुई थी।

क्रान्ति के बाद—मई १९४४ में महात्मा जी जेल से मुक्त हुए। आपने फिर यही कहा कि देश में राष्ट्रीय सरकार का स्थापित हो जाना आवश्यक है। आपने तथा श्री राजगोपालाचारी जी ने मुस्लिम लीग के कर्ता-धर्ता श्री जिन्ना से बातचीत की। आप चाहते थे कि कांग्रेस और लीग का समझौता हो जाय तो सरकार पर कुछ दबाव पड़ सके। सरकार बारबार देश में मतभेद की बात उठा रही थी। इस समय भी उसका कहना था कि भारतवर्ष में मुसलमानों के अतिरिक्त राजाओं तथा हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं। यद्यपि ये समस्याएँ बहुत कुछ ब्रिटिश साम्राज्य की देन थीं, और उसके रहते इनके अन्त होने की विशेष आशा नहीं थी, तथापि कांग्रेस इन समस्याओं को यथा-सम्भव सुलझाने का प्रयत्न करती रही। मुसलिम लीग से समझौता करने में वह बहुधा उस सीमा तक पहुँची कि उस पर मुसलमानों का पक्षपात करने का आरोप लगा। उधर लीग की यह हालत थी कि हर समझौते में वह अपनी माँग कुछ अधिक बढ़ाती रहती थी। इस प्रकार समझौता कभी अन्तिम रूप धारण न कर सका। अस्तु, जैसी कि आशंका थी, इस बार भी श्री० जिन्ना से हुई बातचीत सफल नहीं हुई।

श्री० भूलाभाई देसाई और श्री लियाकतअली खाँ ने मिल कर एक समझौता तैयार किया, जिसमें समान प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया गया।

वेवल योजना—इन बातों को आधार मानकर लार्ड वेवल ने

सन् १९४५ में राजनैतिक गतिरोध दूर करने के लिए एक योजना उपस्थित की। उसपर विचार करने के लिए २५ जून को शिमले में भारतीय नेताओं को कान्फ्रेन्स बुलाई गई। योजना में कई दोष जानते हुए भी जनता के युद्ध-कालीन संकट दूर करने और देश की आजादी का रास्ता साफ होने की आशा से कांग्रेस ने कान्फ्रेन्स में भाग लिया। विचार-विनिमय के समय श्री जिन्ना ने यह हठ की कि भावी केन्द्रीय सरकार के सब मुसलमान सदस्यों का चुनाव सिर्फ मुस्लिम लीग ही करे; जिसका अर्थ यह होता था कि कांग्रेस कोई राष्ट्रीय संस्था नहीं है, उसका मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्री० जिन्ना की यह बात असत्य थी; योजना पर विचार होते समय भी मौलाना अब्दुलकलाम आज़ाद कांग्रेस के सभापति की हैसियत से कान्फ्रेन्स में भाग ले रहे थे। अस्तु, वेवल-योजना अमल में नहीं आई।

सन् १९४६ में प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं का जो चुनाव हुआ, उसमें कांग्रेस को प्रचंड विजय प्राप्त हुई। आठ प्रान्तों में उसके मंत्रिमंडल बन गए।

इंगलैंड की परिस्थिति—महायुद्ध के समय श्री चर्चिल ने बड़े दर्प के साथ कहा था कि मैं साम्राज्य का अन्त करने के लिए सम्राट् का प्रधान मन्त्री नहीं बना हूँ। भारतवर्ष को स्वाधीन करने का अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करना ही होता है। इसलिए उनसे भारतवर्ष कोई आशा नहीं कर सकता था। परन्तु हमेशा ही तो चर्चिल-पंथियों का दौरदौरा नहीं रहता। महायुद्ध समाप्त हुआ, इंगलैंड विजयी पक्ष में अवश्य रहा, पर अब वह योरप में प्रथम श्रेणी का राष्ट्र न रहकर दूसरा ही नहीं, तीसरी श्रेणी का राष्ट्र बन चुका था। वह अमरीका का पिछलग्गू था, और भारत जैसे देश के सहयोग की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उधर सन् १९४५ के चुनावों ने दिखा दिया कि श्री चर्चिल को ब्रिटिश जनता शान्ति-स्थापना और पुनर्निर्माण आदि की समस्याओं को सुलझाने के लिए योग्य नहीं समझती। उसने शासन की

बागडोर मजदूर दल के नेताओं को सौंपदी।

विशेष वक्तव्य—ब्रिटिश सरकार को यह साफ दिखाई दे रहा था कि वह अब अधिक समय तक भारत पर हकूमत नहीं कर सकती। पर शायद उसे इस ज्वलंत सूचना की आवश्यकता थी कि ब्रिटिश विरोधी भावना अब उसकी सेना को भी ग्रस्त कर चुकी है, और उसके ऊपर भी भरोसा नहीं किया जा सकता। कौन जानता था कि यह चेतावनी उसे जल्दी ही मिलनेवाली है। अस्तु, उसका विचार आगे किया जायगा। पहले हमें उस आन्दोलन का वर्णन करना है, जो सन् १९४२ की जनक्रान्ति के समय ही, भारतीय नेतृत्व में इस देश की पूर्वी सीमा पर इसे आजाद करने के लिए हो रहा था।

नवाँ अध्याय

आज़ाद हिन्द आन्दोलन

कदम कदम बढ़ाए जा, खुशी के गीत गाए जा।
यह ज़िन्दगी है कौम की, तू कौम पै लुटाए जा॥
तू शेरे हिन्द आगे बढ़, तू मरने से कभी न डर।
आस्मान तक उठा के सिर, जोशे वतन बढ़ाए जा॥
हिम्मत तेरी बढ़ती रहे, खुदा तेरी तरफ़ रहे।
जो सामने तेरे चढ़े, तू खाक में मिलाए जा॥
चलो दिल्ली पुकार के, कौमी निशां सम्हाल के।
लाल किले पै गाड़ के, फहराए जा फहराए जा॥

—आजाद हिन्द सेना का अभियान-गीत

भारतवर्ष को स्वाधीन करने का आन्दोलन समय-समय पर इस देश की सीमा से बाहर भी होता रहा। इसका कुछ आभास पिछले

अध्याय में मिल चुका है। यहाँ दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय संगठित आज़ाद हिन्द संगठन के कार्यों का ही परिचय दिया जाता है।

पूर्व में जापान की विजय—दिसम्बर १९४१ में जापान का सूर्य मध्याह्न पर था। उसने प्रशान्त महासागर में विद्युत गति से एक के बाद दूसरी विजय करके संसार को चकित कर दिया। थाईलैंड को रौंदते हुए जापानी सेनाएँ मलाया और वर्मा की ओर बढ़ चलीं। उन्हें रोकने की शक्ति किसमें थी! सिङ्गापुर की किलेबन्दी पर पचास करोड़ रुपए खर्च करके इसे ब्रिटिश साम्राज्य का अजेय पूर्वी प्रहरी बनाया गया था, इस पर जापान ने फरवरी १९४२ में बातों-बातों में ही अधिकार कर लिया। उसने मलाया के उपजाऊ प्रदेश कर धावा बोल दिया। इससे यहाँ रहनेवाले सात लाख भारतीयों के सामने यह समस्या उपस्थित हो गई कि वे किसका पक्ष ग्रहण करें; अँगरेजों के शासन में उनके दमन-चक्र और पक्षपात के कारण भारतीयों में विरोधी भावना उग्र हो चली थी।

मलाया के भारतीय नेताओं को फुसलाने का प्रयत्न—सिंगापुर के पतन के बाद, १७ फरवरी १९४२ को जापानी सदर मुकाम के मेजर फूजीवारा ने प्रतिष्ठित भारतीयों को बुलाया, और बड़ी हितैषिता का ढोंग करते हुए कहा कि 'अब ब्रिटिश शासन समाप्त हो रहा है, भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने का महान अवसर उपस्थित है, उन्हें आजाद हिन्द संघ बनाना चाहिए; जापान इसमें हर प्रकार सहायक होगा।' भारतीय नेताओं ने इस पर विचार करने का निश्चय किया। ९ और १० मार्च को शोनाम में मलाया के विभिन्न भागों के भारतीयों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ।

टोकियो सम्मेलन—इस बीच में भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध पुराने क्रांतिकारी रासबिहारी बोस ने अपनी चिरकाल की आकांक्षाओं को मूर्त-स्वरूप देने के विचार से मलाया और थाईलैंड के भारतीयों के प्रतिनिधियों

का एक सम्मेलन टोकियो में करने का आयोजन किया। इसलिए मलाया के सम्मेलन ने उसमें ही एक शिष्ट मंडल भेजने का निश्चय किया। टोकियो-सम्मेलन श्री बोस की अध्यक्षता में २८ से ३० मार्च तक हुआ। इसमें मलाया के अतिरिक्त हाँगकांग, शंघाई तथा जापान के भारतीय प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन ने निश्चय किया कि इस सुअवसर से लाभ उठाकर पूर्वी एशिया के भारतीयों में स्वाधीनता आन्दोलन किया जाय। आन्दोलन का ध्येय भारत को पूर्ण स्वतन्त्र करना होगा। इसके लिए भारतीय राष्ट्रीय सेना, भारतीयों के नेतृत्व में भारत पर हमला करे। जापान से आवश्यक सहायता ली जाय। भारत का भावी विधान बनाने का कार्य भारतीय जनता के हाथ में छोड़ा जाय।

बेंकाक सम्मेलन—पूर्वी एशिया के भारतीयों का दूसरा सम्मेलन बेंकाक में सन् १९४२ में १५ से २३ जून तक हुआ। जापान, हाँगकांग, मंचुको, बर्मा, बोर्नियो, जावा, मलाया तथा थाईलैंड के भारतीयों के लगभग २०० प्रतिनिधि उपस्थित हुए। मलाया तथा हाँगकांग के भारतीय सेना (युद्ध बन्दियों) के प्रतिनिधि भी उपस्थित हुए। इसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए—(१) पूर्वी एशिया के भारतीयों को भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आजाद हिन्द संघ बनाया जाय (२) संघ के अन्तर्गत बनाई गई युद्ध-समिति के अधीन पूर्वी एशिया के भारतीय फौजों एवं नागरिकों की भी आजाद हिंद फौज बनाई जाय (३) स्वतन्त्रता आन्दोलन का कार्यक्रम तथा योजना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्योग के आधार पर कार्यान्वित की जाय। (४) इस आन्दोलन और इसके साथ ही भारत के सम्बन्ध में जापान से उसकी नीति का स्पष्टीकरण मांगा जाय। यह भी निश्चय किया गया कि आजाद हिन्द फौज का उपयोग केवल। आजादी के लिए ही किया जायगा। युद्ध-समिति उसी समय कोई सैनिक कार्यवाही करेगी, जब भारत में क्रान्ति और भारतीय सेनाओं में विद्रोह पैदा हो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तिरंगे झंडे को अपना झंडा माना गया। जापान से यह अनुरोध किया गया कि सुभाषचन्द्र बोस को पूर्वी

एशिया आकर इस आन्दोलन का नेतृत्व करने की सुविधा दी जाय।

आज़ाद हिन्द संघ की स्थापना—इस प्रकार 'आजादहिन्द संघ' स्थापित किया गया। इसका प्रधान कार्यालय सिंगापुर में रखा गया। संघ के प्रथम सभापति श्री रासबिहारी बोस निर्वाचित किए गए। एक केन्द्रीय कार्यकारिणी कौंसिल स्थापित की गई और पूर्वी एशिया के सभी प्रदेशों में संघ की शाखाएँ कायम की गईं।

जापानियों से मनमोटाव—इसी बीच जापानी सरकार तथा संघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी कौन्सिल के बीच मनमोटाव हो गया। इसका कारण यह था कि बेंकाक-सम्मेलन की माँग के अनुसार जापान ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण नहीं किया। वह केवल यह बात दुहराकर चुप रह गया कि जापान स्वाधीनता प्राप्त करने में भारत को सहायता देने के लिए कृत-संकल्प है। जापान की ओर से यह भी कहा गया कि भारत में वह कोई प्रदेश प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं रखता। कौन्सिल केवल इतने से संतुष्ट नहीं हुई। दूसरा कारण मनमोटाव का यह था कि जापानियों ने एक तरफ भारतीय स्वाधीनता संघ तथा दूसरी तरफ जापानी सरकार व जापानी सैनिक अधिकारियों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिए 'इवाकुरो कीकन' नाम का जो विभाग खोला था, वह संघ तथा भारतीय राष्ट्रीय सेना के कार्यों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करता था, जिसका कार्यकारिणी कौन्सिल विरोध करती थी।

दिसम्बर १९४२ ई० में संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। जापानियों ने चाहा कि आजाद हिन्द सेना, जिसका मलाया में संगठन किया गया था, बरमा भेज दी जाय। संघ की कार्यकारिणी कौन्सिल ने उत्तर दिया कि जब तक जापान की सरकार अपनी सारी नीति स्पष्ट न कर देगी तब तक भारत की राष्ट्रीय सेना बरमा नहीं भेजी जायगी। इसी महीने के अन्दर जब जापानियों ने आजाद हिन्द सेना के कर्नल एन० एस० गिल को ब्रिटिश गुप्तचर होने का संदेह कर गिरफ्तार कर लिया और आजाद

हिन्द सेना के कमान्डर कैप्टन मोहनसिंह को भी गिरफ्तार कर लिया तब संघ की कार्यकारिणी कौन्सिल के सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। इसके साथ प्रथम आजाद हिन्द सेना का जीवन समाप्त हो गया। संघ के सभापति श्री रासबिहारी बोस ने स्वाधीनता-आन्दोलन सम्बन्धी सब बातों के सम्बन्ध में जापान की नीति का स्पष्टीकरण कराने के लिए टोकियो जाने का निश्चय किया। इधर 'इवाकुरी कीकन' का सब विरोधी प्रापेगेन्डा जारी रहा और मलाया शाखा के अध्यक्ष श्री राघवन को इस्तीफा देने के लिए बाध्य किया गया।

इससे यह स्पष्ट है कि आजाद हिन्द संघ जापानियों के हाथ की कठपुतली नहीं था। उसने प्रारम्भ से ही अपनी स्वतंत्रता कायम रखी।

श्री० सुभाषचन्द्र बोस—अप्रेल १९४३ में पूर्वी एशिया के सभी प्रदेशों के भारतीयों का सम्मेलन सिंगापुर में हुआ, जिसमें श्री० रासबिहारी बोस ने घोषित किया कि मेरे स्थान पर श्री सुभाषचन्द्र बोस इस आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे। इस घोषणा से संगठन में विलक्षण स्फूर्ति आ गई। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि श्री० सुभाष बाबू में आरम्भ से ही देशाभिमान की उत्कट भावना थी। सन् १९२० में आप युवराज के बहिष्कार में भाग लेकर सरकार के कोप-भाजन बने। देशबन्धु दास के साथ आप छः माह जेल में रहे। सन् १९२४ से तो आपका जेल जाने का और वहाँ स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो जाने पर छोड़े जाने का सिलसिला ही लग गया। आपने बीमारी की अवस्था में भी योरप में खूब प्रचार-कार्य किया। सन् १९३८ में आप हरिपुरा कांग्रेस के लिए सभापति चुने गए; इसके बाद अगले वर्ष गांधी-दल का विरोध होते हुए भी आप त्रिपुरा कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए। म० गांधी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं से मतभेद होने पर आपने राष्ट्रपति-पद से त्यागपत्र दे दिया, और 'फार्वर्ड ब्लाक' का संगठन किया। आप वास्तव में 'फार्वर्ड' (अग्रगामी) रहनेवाले थे।

बाहरी सहायता की आवश्यकता—ऊपर श्री नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के म० गांधी आदि से मतभेद का उल्लेख हुआ है। बात यह थी कि नेता जी का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से लाभ उठाया जाय। महायुद्ध होने की सम्भावना आपको साल भर पहले ही मालूम होने लग गई थी। आपने देश में घूम-फिर कर जनता में यह प्रचार किया कि अब इंगलैंड को मजबूर किया जाय कि भारत की स्वाधीनता की माँग मंजूर करे। मार्च १९३९ में आपके सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसमें भारत को स्वतंत्र करने के लिए सरकार को छः माह की अन्तिम सूचना देने का प्रस्ताव किया गया। सितम्बर में महायुद्ध छिड़ गया। आप चाहते थे कि अब यदि इंगलैंड हमारी माँग स्वीकार नहीं करता तो हम उसके लिए उससे लड़ाई छेड़-दें। परन्तु म० गांधी और अन्य कांग्रेसी नेता इससे सहमत नहीं थे। वे सत्याग्रह की बात सोचते थे। इधर नेताजी को विश्वास हो गया था कि सत्याग्रह से सरकार पर कुछ दबाव तो पड़ेगा, और उसके युद्धोद्योग में बाधा भी उपस्थित होगी, पर इतने से सरकार हमारी माँगों पर ध्यान नहीं देगी।

नेताजी का यह भी विचार था कि किसी बाहरी सहायता के बिना भारतवर्ष भी स्वाधीन नहीं हो सकेगा। इसके वास्ते संसार की, खास-कर योरप की परिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जुलाई सन् १९४० में आपको भारतीय नौकरशाही ने जेल का मेहमान बना रखा था। आपने वहाँ इस विचार से अनशन किया कि या तो मर ही जाऊंगा या जेल से बाहर निकल आऊंगा। आखिर, दिसम्बर में आपको जेल से तो रिहा किया गया परन्तु घर में ही पुलिस के कड़े पहरे में नजरबन्द कर दिया गया। किन्तु आप निष्क्रिय कैसे बैठे रह सकते थे। जनवरी १९४१ में आप रहस्यपूर्ण ढंग से काबुली भेष में भारतीय अधिकारियों को चकमा देकर भारत से काबुल और वहाँ से जर्मनी चले गए। जब आप योरप में थे तो आपने वहाँ के विविध मोर्चों

का निरीक्षण किया, और वहाँ जो भी हिन्दुस्तानी सैनिक थे, उनकी एक आजाद सेना खड़ी की थी।

नेताजी का सिंगापुर आना—२० जून १९४३ को नेता जी मुसलिम नौजवान श्री० हसन के साथ एक पनडुब्बी में टोकियो पहुँचे। वहाँ आपका खूब शानदार स्वागत हुआ। जनरल तोजो स्वयं आपके स्वागत के लिए मौजूद थे। पूर्वी एशिया के भिन्न-भिन्न स्थानों से आदमी आपको सारी स्थिति से परिचित कराने के लिए आए थे। आपके व्यक्तित्व का सब पर जादू का सा असर पड़ा। २ जुलाई (१९४३) को आप सिंगापुर आगए, और अपने काम में जुट गए।

आजाद हिन्द सेना का संगठन—नेताओं से विचार-विनिमय होने के बाद ४ जुलाई को खुला सम्मेलन हुआ। इसमें पूर्वी एशिया के सभी देशों के प्रतिनिधि पधारे थे। जनता में अभूतपूर्व उत्साह था। श्री० रासबिहारी बोस ने सर्वसम्मति से आजाद हिन्द संघ की अध्यक्षता नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को प्रदान की। नेताजी ने आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की घोषणा की और वे उसके लिए सेना का पुनस्संगठन करने लग गए। पहले (सन् १९४२ में) बहुत से आदमी आजाद हिन्द सेना में भर्ती हुए थे, परन्तु जापानियों ने उन्हें ट्रेनिंग देने के मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित करदीं थीं, इसलिए उस समय इस कार्य में विशेष प्रगति नहीं हो पाई थी। अब जुलाई १९४३ में श्री सुभाषचन्द्र बोस के प्रभावशाली नेतृत्व में फौज़ की भर्ती और लड़ाई की तैयारी खूब ज़ोर से होने लगी। उन्होंने अपनी एक अपील में तीस लाख सिपाही और तीन करोड़ रुपए की माँग की। जगह-जगह सैनिक शिक्षा-केन्द्र खुल गए और जनता के जन-धन की रक्षा के लिए पूरा प्रबन्ध किया गया।

महिलाएँ भी बहुत बड़ी संख्या में, संघ में सम्मिलित हुईं। उनका एक अलग रेजिमेंट संगठित किया गया। उसका नाम पड़ा 'झांसी की रानी का रेजिमेंट'। रेडक्रास शाखा में भी बहुत सी स्त्रियाँ भर्ती हुईं।

महिला रंगरूटों की भर्ती के लिए सिंगापुर में एक शिविर खोला गया। रंगून में भी एक ट्रेनिंग कैम्प खोला गया।

स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त बाल-सेना का भी संगठन किया गया, जिसमें ६ से १४ साल तक के भारतीय बालकों ने सैनिक शिक्षा प्राप्त की। तीन सप्ताह के शिक्षण द्वारा बाल-सेना का प्रत्येक बालक अपनी अवस्था के योग्य सैनिक कला में प्रवीण हो गया।

साम्प्रदायिकता से दूर--इस सेना के संगठन में एक बात पर खास ध्यान देने की ज़रूरत है; वह यह कि यद्यपि इसमें सभी जातियों और धर्मों के आदमी शामिल थे, इसका निर्माण साम्प्रदायिक आधार पर नहीं किया गया था, जैसे सिक्ख रेजिमेंट, राजपूत रेजिमेंट और पठान रेजिमेंट आदि। इसके 'ब्रिगेडों' के नाम भारतीय नेताओं के नाम पर रखे गए थे—जैसे गांधी ब्रिगेड, नेहरू ब्रिगेड, आज़ाद ब्रिगेड और बोस ब्रिगेड।

सेना की, संघ के सदस्यों की और सरकारी कार्यकर्ताओं की वेश-भूषा समान रूप से खादी की रखने का नियम बनाकर भी साम्प्रदायिकता मिटाने का प्रयत्न किया गया था। इसके अलावा सब लोग आपस में मिलते हुए तथा पत्र-व्यवहार में भी अभिवादन के लिए नमस्ते, रामराम या सलाम आदि भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग न करके एक ही शब्द 'जयहिन्द' काम में लाते थे। यही नहीं; खानपान में खासकर सैनिक शिविरों में जातियों के आधार पर अलग-अलग लंगरों की प्रथा हटा दी गई थी। यद्यपि सुविधा की दृष्टि से एक कैम्प में कई-कई लंगर ज़रूर होते थे, पर हिन्दू लंगर, मुसलिम लंगर आदि का भेद न था। गौ का या सुअर का मांस किसी भी लंगर में नहीं पक सकता था। निरामिष-भोजियों या शाकाहारियों के भोजन की व्यवस्था अलग तो थी, पर वे भी सबके साथ बैठकर खाते-पीते थे। संक्षेप में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सब साथ रहते थे, साथ-साथ खाना खाते थे, साथ-साथ मिल कर लड़ते थे और देश की आजादी के लिए साथ-साथ

मिलकर खून बहाते थे।

आजाद हिन्द सेना का यह व्यवहार आदर्श-रूप था। अँगरेजों के लम्बे शासन में सेना ने इतने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयता का परिचय कभी नहीं दिया। भारतवर्ष में हमेशा साम्प्रदायिक भावनाओं को पनपने दिया गया; यही नहीं, उन्हें कूटनीतिक उपायों से यहाँ तक प्रोत्साहित किया गया, कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की बहुत सी शक्ति उसमें लगती रहने पर भी, यह देश अभी तक उससे पिंड नहीं छुटा सका है। इस विषय में आजाद हिन्द सेना ने मार्के का पथ-प्रदर्शन किया।

सैनिक नारा; 'चलो दिल्ली'—भारत को स्वतंत्र करनेवाली सेना के संगठन के दिन (५ जुलाई १९४३) को नेताजी ने अपने जीवन का सबसे अधिक अभिमान का दिन बताते हुए कहा—"हिन्दुस्तानियों को कितना गर्व होना चाहिए कि इस सेना का संगठन विशुद्ध भारतीय नेतृत्व में किया गया है और यह भारतीय नेताओं की ही छत्रछाया में भारत की ओर कूच करेगी। *मेरे वीर सैनिकों! तुम्हारा नारा होगा—'चलो दिल्ली'—'चलो दिल्ली'। पुरानी दिल्ली के लाल किले में ब्रिटिश साम्राज्य की कब्र पर विजय-परेड करना हमारा अन्तिम लक्ष्य है। मैं अंधेरे या रोशनी में, दुख या सुख में, पराजय या विजय में, सदा तुम्हारे साथ रहूँगा। ईश्वर की हम पर कृपा हो और आजादी के युद्ध में हमें विजय प्राप्त हो।'*

दृढ़ निश्चय की सूचना—२६ सितम्बर १९४३ को स्वर्गीय सम्राट् बहादुरशाह की समाधि पर एक शान्त और गम्भीर समारोह में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था कि—

"भारतीय स्वतन्त्रता के अंतिम योद्धा के इस पवित्र स्मारक के सामने, जो मनुष्यों में बादशाह था और बादशाहों में महान पुरुष था, उपस्थित होकर हम अपने दृढ़ निश्चय की घोषणा करते हैं। जब हम भारत की परतन्त्रता के अन्तिम युद्ध में प्राणप्रण से लगे हुए हैं तब हमें अपने उस दृढ़ निश्चय को एक बार फिर दुहराना है, जो हमने इस लड़ाई

में अन्तिम दम तक लगे रहने के लिए किया है। इसके लिए हमें जो भी कष्ट झेलने होंगे, बलिदान करने होंगे और मुसीबतें उठानी होंगी, उनकी हम तनिक भी परवा नहीं करेंगे। हमें इस बात की भी परवा न होगी कि यह युद्ध कितने वर्ष जारी रहता है। हम तब तक इसे जारी रखेंगे, जब तक कि हम अपने दुश्मन को, जो कि बर्मा और भारत का एकसा दुश्मन है, पूरी तरह पछाड़ न देंगे और जब तक कि हम न केवल अपने देश में आजाद होंगे, बल्कि मानव के भाग्य-निर्माण के लिए स्वतंत्र लोगों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर खड़े होंगे।

"बहादुरशाह ने जो उद्‌गार प्रकट किए थे, वे हमें याद रखना चाहिएँ। उसने कहा था कि:—

"गाजियों में बू रहेगी, जब तलक ईमान की।
तब तो लन्दन तक चलेगी, तेग़ हिन्दुस्तान की॥"

आजाद हिन्द सरकार की घोषणा—२१ अक्तूबर १६४३ को सिंगापुर में अस्थायी आजाद हिन्द सरकार का संगठन करने के अवसर पर निम्न लिखित विस्तृत घोषणा प्रकाशित की गई:—

"भारतीय जनता सन् १७५७ में अँग्रेजों द्वारा बंगाल में पहली बार पराजित किए जाने के बाद लगातार एक शताब्दी तक कठोर और भयानक यातनाएँ सहती रही। उन दिनों का इतिहास अपूर्व वीरता तथा आत्मोत्सर्ग के उदाहरणों से भरा पड़ा है। उस इतिहास के पृष्टों में बंगाल के सिराजुद्दौला और मोहनलाल, दक्षिण भारत के हैदर अली, और टीपू सुलतान, महाराष्ट्र के अप्पा साहब भोंसले और पेशवा बाजीराव, अवध की बेगमों, पंजाब के सरदार श्यामसिंह अटारी वालों और उनके साथ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपी, डुमराव के महाराज कुवरसिंह और नाना साहब आदि योद्धाओं के नाम अमिट स्वर्णाक्षरों में लिखे हैं। हमारे लिए दुर्भाग्य की बात है कि हमारे पूर्वजों को यह अनुभूति पहले न हुई कि अँग्रेजों से समस्त हिन्दुस्तान को महान संकट है और इस लिए उन्होंने उस

शत्रु का संगठित रूप से सामना नहीं किया। अन्त में जब हिन्दुस्तानियों को वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ, तो वे मिल कर आगे बढ़े और सन् १८५७ में बहादुरशाह के नेतृत्व में उन्होंने स्वतंत्र जनता के रूप में अन्तिम लड़ाई लड़ी। इस युद्ध के आरंभिक काल में हिन्दुस्तानियों को कई बड़ी सफलताएँ प्राप्त हुईं। दुर्भाग्य और दोषपूर्ण नेतृत्व के कारण उन्हें अन्त में पूर्ण पराजय और दासता स्वीकार करनी पड़ी। फिर भी झांसी की रानी, तांत्या टोपी, कुंवरसिंह, और नाना साहब जैसे योद्धा आज भी राष्ट्रीय क्षितिज में अमर तारिका की भांति देदीप्यमान हैं और महान कार्यों के लिए हमारे हृदय में त्याग तथा वीरता की प्रेरणा भर रहे हैं।"

कांग्रेस और राजनैतिक जागृति—"१८५७ के बाद अँग्रेजों द्वारा जबर्दस्ती निहत्थी, तथा आतंक और बर्बरता दिखा कर गुलाम बना दी जाने पर, हिन्दुस्तानी जनता कुछ समय तक बेबस रही—पर १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस के जन्म के साथ नई जागृति आरम्भ हुई। १८८५ से पिछले विश्वव्यापी युद्ध के अन्त तक, हिन्दुस्तानी जनता ने अपनी खोई हुई आजादी को दुबारा प्राप्त करने के प्रयत्न में सभी उपायों से काम लिया—आन्दोलन और प्रचार किया, ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया, आतंकवाद तथा तोड़-फोड़ का आश्रय लिया और अंत में सशस्त्र क्रांति की। पर ये सभी प्रयत्न कुछ समय तक असफल होते रहे। अन्त में, १६२० में, जब हिन्दुस्तानी जनता विफलता से आहत होकर नए उपायों की खोज में थी, महात्मा गांधी असहयोग तथा सत्याग्रह के नए अस्त्रों को लेकर प्रकट हुए।

"इसके बाद, दो दशक तक हिन्दुस्तानी जनता देशभक्ति की प्रबल लहरों में बहती रही। आजादी का संदेश हिन्दुस्तान के घर-घर पहुँच गया। जनता को आजादी के लिए कष्ट-सहन, त्याग तथा मर मिटने का पाठ पढ़ाया गया। केन्द्र से लेकर सुदूरवर्ती गाँवों तक की जनता एक राजनीतिक संगठन के नीचे आबद्ध हो गई। इस प्रकार हिन्दुस्तानी

जनता में न केवल पुनः राजनीतिक जागृति आ गई, बल्कि उसने राजनीतिक सत्ता भी प्राप्त कर ली। वह अब सामान्य लक्ष्य के लिए एक आवाज़ से बोल सकती थी और एक होकर प्रयत्न कर सकती थी। १९३७ से १९३९ तक आठ प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के कार्यों द्वारा उसने सिद्ध कर दिया कि वह अपने ऊपर स्वयं हुकूमत करने की योग्यता रखती है।"

पूर्वी एशिया के भारतीयों का संगठन—"इस प्रकार, वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध छिड़ने के समय, भारत की आजादी की अंतिम लड़ाई के लिए भूमिका तैयार थी। इस युद्ध के दौरान में, जर्मनी ने अपने मित्रों की सहायता से योरप में हमारे शत्रु को सांघातिक चोटें पहुंचाई हैं—इधर जापान ने अपने मित्रों की सहायता से पूर्वी एशिया में हमारे शत्रु को जबर्दस्त शिकस्त दी है। इस प्रकार अत्यन्त अनुकूल परिस्थिति में हिन्दुस्तानी जनता को आज अपनी राष्ट्रीय आजादी प्राप्त करने का अप्रतिम अवसर मिला है।

"हाल के इतिहास में पहली बार विदेशों में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों में भी राजनीतिक जागृति उत्पन्न हुई है और वे एक संगठन में बंध गए हैं। उनकी भावनाएं और उनकी आकांक्षाएँ न केवल स्वदेश के अपने देश-भाईयों के अनुरूप हैं, बल्कि उनके साथ वे भी कदम-से-कदम मिला कर आजादी के मार्ग पर बढ़ रहे हैं। विशेष रीति से पूर्वी एशिया के २० लाख से अधिक हिन्दुस्तानी अब एक संगठन में दृढ़ता से बंध गए हैं, और पूर्ण शक्ति-संचालन ही उनका एकमात्र नारा है। और आज उनके सामने आजाद हिन्द फौज के सैनिक खड़े हैं, जिनके लबों पर एक नारा है—चलो दिल्ली।

"अपनी मक्कारी से हिन्दुस्तानियों को निराशा के तल तक पहुँचा देने तथा लूट-मार से उन्हें भुखमरी और मौत के मुंह में पहुँचा देने के फल-स्वरूप, भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति कोई ममता नहीं रह गई है और अब वह बड़ी सांसत में पड़ गया है। अब इस दुखद शासन का

अन्त करने के लिए दियासलाई दिखाने भर की जरूरत है। आजाद हिन्द फौज का काम दियासलाई दिखाना होगा। स्वदेश की नागरिक जनता तथा ब्रिटिश भारतीय सेना के एक बड़े भाग का सहयोग मिलने के पूर्ण आश्वासन तथा बाहर के एक बहादुर तथा अजेय मित्रराष्ट्र के सहयोग के साथ आजाद हिन्द फौज को अपना चरम लक्ष्य पूरा कर लेने का अटल विश्वास है।"

आजाद हिन्द संघ का उद्देश्य और कार्य—"अब आजादी की वेला निकट है, अतः हिन्दुस्तानी जनता का कर्तव्य है कि वह अपनी एक अस्थायी सरकार बनाए तथा अपनी सरकार के झंडे के नीचे अंतिम लड़ाई आरम्भ करे। पर हिन्दुस्तान के सभी नेताओं के जेल में बन्द होने तथा स्वदेश के सभी बन्धुओं के निहत्ये होने के फलस्वरूप हिन्दुस्तान के भीतर अस्थायी सरकार बनाने और उस सरकार के तत्वावधान में सशस्त्र युद्ध छेड़ना सम्भव नहीं है। अतः पूर्वी एशिया के आजाद हिन्द संघ का कर्तव्य है कि वह स्वदेश तथा प्रवासी देशभक्त हिन्दुस्तानियों के सहयोग से इस कार्य को अपने हाथ में ले—आजाद हिन्द की अस्थायी सरकार की स्थापना करे तथा संघ द्वारा संगठित आजाद हिन्द फौज की सहायता से आजादी की अंतिम लड़ाई चलावे।

"पूर्वी एशिया के आजाद हिन्द संघ द्वारा आजाद हिन्द की अस्थायी सरकार के रूप में संगठित होने के फल-स्वरूप, हम पूर्ण उत्तर-दायित्व के साथ अपने कर्तव्य क्षेत्र में उतरते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे पुण्य कार्य में, हमारी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए चलाए जाने वाले युद्ध में सहायक हो।"

"हम हिन्दुस्तान की आजादी, हिन्दुस्तान की भलाई, तथा संसार के राष्ट्रों में हिन्दुस्तान को गौरवपूर्ण स्थान दिलाने के लिए अपनी और अपने बंधुओं की जान कुर्बान कर देने की प्रतिज्ञा करते हैं। अस्थायी सरकार का कार्य युद्ध चलाकर अँगरेजों तथा उनके मित्रों को हिन्दुस्तान की भूमि से निकाल बाहर करना होगा। इसके बाद अस्थायी सरकार

का कार्य आजाद हिन्द की स्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना होगा, जो हिन्दुस्तान की जनता की इच्छा के अनुसार बनेगी और उसके विश्वास के बल पर अवलम्बित होगी। अँगरेजों और उनके मित्रों के हिन्दुस्तान की भूमि से निकाल बाहर किए जाने के बाद, आजाद हिन्द की स्थायी राष्ट्रीय सरकार के बनने तक अस्थायी सरकार देश का शासन हिन्दुस्तानी जनता की थाती मानकर चलाएगी।

अस्थायी सरकार की नीति—"अस्थायी सरकार अपने सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी देती है। वह अपने इस दृढ़ संकल्प की घोषणा करती है कि वह सारे राष्ट्र को सुखी तथा समृद्ध बनाने में प्रयत्नशील होगी, और विदेशी सरकार ने मक्कारी से जो भेदभाव की दीवारें खड़ी की हैं, उन्हें चकनाचूर कर वह भारत माता के सभी पुत्रों के साथ एकसा व्यवहार करेगी।"

"ईश्वर के नाम पर, उन पूर्वजों के नाम पर जिन्होंने भारत को एक राष्ट्र बनाया, उन वीरात्माओं के नाम पर जिन्होंने हमको वीरता तथा त्याग का पाठ पढ़ाया, हम भारतीय जनता का, अपने झंडे के नीचे एकत्र होकर हिन्दुस्तान की आज़ादी का युद्ध छेड़ने के लिए आह्वान करते हैं। हम अँगरेजों और हिन्दुस्तान में उनके अन्य मित्रों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने तथा जब तक जनता पुनः आजाद न हो जाय तब तक अन्तिम विजय में पूर्ण विश्वास के साथ वीरता तथा दृढ़ता के साथ युद्ध चलाते रहने के लिए जनता का आह्वान करते हैं।"

आजाद हिन्द सरकार की स्थापना; श्री रासबिहारी बोस की भावना——२१ अक्तूबर १९४३ को आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की गई। इस अवसर पर मंचुकुओ, चीन, हिन्दचीन आदि से बधाई के तार आए। पहले श्री० रासबिहारी बोस का भाषण हुआ। आपने कहा—

"इन पिछले बीस साल से मैं अपनी माँ की गोद से दूर हूँ।

कितनी बार भारत माँ ने हाथ बढ़ा कर मुझ जैसे ज़िद्दी शिशु को अपनी गोद में घसीटना चाहा। परन्तु माता के हाथों में हथकड़ियाँ जकड़ी हुई थीं। इसलिए मैं नहीं गया। मगर आज मेरा दूसरा भाई, उम्र में छोटा पर लड़ाई में मुझसे आगे सुभाष, मसीहा बनकर इनसानियत के घावों को आजादी के फाए से ठीक करने आया है। हम बीस लाख नंगे-भूखे प्रवासी भारतीय स्वतंत्रता के दूत का स्वागत करते हैं।"

श्री नेताजी सुभाष बोस ने आज़ाद हिन्द सरकार का संगठन कर स्वयं राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, सेनाध्यक्ष और पर-राष्ट्र-मंत्री के पद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। श्री रासबिहारी बोस सर्वोच्च परामर्शदाता थे। मंत्रिमंडल के सभी सदस्य मिला कर १६ व्यक्ति थे। जिनमें शाहनवाज़ चीफ़-आफ़-स्टाफ़, केप्टन सहगल मिलिटरी सेक्रेटरी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सब ने गम्भीरता पूर्वक नए स्थापित किए हुए राज्य के प्रति भक्ति की शपथ ली।

शपथ ग्रहण—शपथ पहले श्री नेताजी सुभाषबोस ने ग्रहण की। वह इस प्रकार थी—

'भगवान को साक्षी करके मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि भारत को आजाद करने के लिए अन्तिम सांस तक एक सिपाही की तरह लड़ता रहूंगा। मैं सदा भारत का सेवक रहूंगा, और भारत का हित मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य रहेगा। स्वतंत्रता मिलने के उपरान्त भी जब कभी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मेरी ज़रूरत होगी तो मैं अपने रक्त की अन्तिम बून्द तक मां के चरणों पर चढ़ा दूंगा।"

श्री० नेताजी के बाद आजाद हिन्द-सरकार के अन्य अधिकारियों ने यही शपथ ली।

अस्थायी सरकार के कार्य—अस्थायी सरकार ने २३ अक्तूबर १९४३ को ब्रिटेन और अमरीका के विरुद्ध योद्ध-घोषणा कर दी। जर्मनी, जापान आदि ९ स्वतंत्र देशों ने इस सरकार का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया। आज़ाद हिन्द दूतावास में कोई भी जापानी

या अन्य देशीय सुभाषबोस की अनुमति बिना प्रवेश नहीं कर सकता था। ७ जुलाई १९४४ को आजाद-हिन्द-सरकार और आज़ाद-हिन्द संघ का प्रधान कार्यालय बर्मा में आ गया। मलाया, सिंगापुर, अंदमान-निकोबार, थाईलैंड आदि प्रदेशों का शासन रंगून से ही होता था। हर प्रदेश में हिन्दुस्तानी की शिक्षा दी जाने के लिए स्कूल खोले गए। सरकार के प्रचार-विभाग से गज़ट तथा पत्र निकलता था। सरकार के राष्ट्रीय बैंक का संचालन यथेष्ट रूप से होता था।

आजाद-हिन्द-सरकार में सुदूरपूर्व के बीस लाख भारतीय भक्ति रखते थे। उन्होंने एक सेना सङ्गठित की, जिसमें सब स्वेच्छा से शामिल हुए थे। इस सेना में केवल भारतीय युद्ध-बन्दी ही नहीं थे; इसमें बहुत से नागरिक थे, जिन्होंने पहले बन्दूक छुई भी न थी, और जो अब आज़ादी की लड़ाई में कूद पड़े थे। सरकार सुसङ्गठित थी। उसके विविध शासन-विभाग थे। उसकी आजाद-हिन्द फौज का अपना कानून था। उसकी सेना ने आधुनिक युद्ध के नियमों के अनुसार युद्ध किया।

आर्थिक व्यवस्था—आजाद-हिन्द-सरकार को अपना सब काम चलाने के लिए भारतीयों से पर्याप्त धन मिलता था। संपूर्ण पूर्वी एशिया से उसकी सहायता के लिए धन आता था। केवल बरमा में लगभग ८ करोड़ रुपया एकत्र हो गया। मलाया में जनवरी १९४५ के दो सप्ताह के भीतर नए वर्ष के उपहार-स्वरूप ४० लाख रुपया मिल गया। गोली-बारूद तथा अस्त्र-शस्त्र को छोड़कर आजाद हिन्द सेना की अन्य सब आवश्यकताओं की पूर्ति संघ अपने धन से करता था।

झंडा और झंडा-गान—आजाद-हिन्द-सरकार का झंडा कांग्रेस का ही तिरंगा झंडा था। उसका झंडा-गान निम्नलिखित था—

सर पर तिरंगा झंडा, जलवा दिखा रहा है।
कौमी तिरंगा झंडा, ऊंचा रहे जहां में॥

हो तेरी सर बुलन्दी ज्यों चाँद आसमाँ में।
तू मान है हमारा, तू शान है हमारी॥
तू जीत का निशाँ है, तू जान है हमारी।
हर एक बसर की लब पै, जारी है ये दुआएँ॥
कौमी तिरंगा झंडा, हम शौक से उड़ाएँ।
आकाश और जमीं पर, हो तेरा बोल-बाला॥
झुक जाएँ तेरे आगे, हर ताज-तख्त वाला।
हर कौम की नजर में, तू अमन का निशां हो॥
हो इस तरह मोअस्सर, साया तेरा जहाँ हो।
मुश्ताक बेजबां भी खुश हो के गा रहा है॥
कौमी तिरंगा झंडा, ऊंचा रहे जहाँ में।
सर पर तिरंगा झंडा, जलवा दिखा रहा है॥

बहादुरशाह की समाधि पर; खून की माँग—श्री नेताजी के हृदय पर सन् १८५७ पूर्णरूप से अंकित था, सम्राट् बहादुरशाह तथा उस समय के अन्य शहीदों की याद उन्हें बार-बार आती थी, और भारतवर्ष को आजाद करने की प्रेरणा करती थी। ११ जुलाई १९४४ को बहादुरशाह के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उसकी समाधि पर फौजी सलामी दी गई, तब नेताजी ने आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों को लक्ष्य करते हुए कहा था कि "१८५७ की घटनाओं का मैं जब अध्ययन करता हूँ, और उस महान क्रान्ति के असफल हो जाने के बाद अँगरेजों द्वारा किए गए अत्याचारों की याद करता हूँ तब मेरा खून खौलने लगता है। यदि हम में कुछ मनुष्यता बाकी है तो हमें अपने बहादुर शहीदों का उचित बदला लेना ही होगा। भारतमाता इसके लिए पुकार रही है।"

इसी वक्तव्य में आपने सैनिकों से कहा कि—

"इसलिए मैं तुमसे खून की मांग करता हूँ। दुश्मन के पापों का बदला केवल उसके खून से ही लिया जा सकता है, लेकिन हम तभी

खून ले सकते हैं, जबकि हम खून देने को तैयार हों। इसलिए हमारा भावी कार्यक्रम खून का देना ही है। इस युद्ध में बहाया गया हमारे बहादुरों का खून हमारे पिछले सब पापों को धो डालेगा। हमारे बहादुरों का यही खून हमारी आजादी की कीमत होगा। अँग्रेजों के जिन अत्याचारों और पापों का बदला लेना हम चाहते हैं, वह हमारे शहीदों के खून उनकी बहादुरी और उनके साहस से ही लिया जा सकता है।"

आजाद हिन्द सेना का भारत में प्रवेश—आजाद-हिन्द सेना ने ४ फरवरी १६४४ से लड़ाई में भाग लेना आरम्भ किया। १८ मार्च को उसकी पलटनों ने बर्मा-भारत की सीमा पारकर भारत में प्रवेश किया। पीछे उन्होंने मुराई तथा अन्य गाँवों पर अधिकार कर लेने के बाद रियासत मनिपुर की राजधानी इम्फाल पर घेरा डाला। आजाद-हिन्द सेना आसाम को अँगरेजों की अधीनता से मुक्त करने-वाली ही थी कि उसे अकस्मात् पीछे हटने के लिए वाध्य होना पड़ा। पीछे हटने का एक कारण तो यह था कि उन्हें हवाई सहायता सुलभ नहीं थी। दूसरा कारण यह था कि वर्षा ने रसद आदि पहुँचाने की व्यवस्था विफल कर दी थी।

रंगून से हटना—जब ब्रिटिश सेना ने बर्मा पर आक्रमण किया, उस समय आजाद हिन्द सेना ने आत्मरक्षा की लड़ाई लड़ी। इस बीच में इस सेना के कुछ अफसर ब्रिटिश सेना में जा मिले, परन्तु बहुत से अफसर इसी सेना के भक्त बने रहे। जब ब्रिटिश फौजों की प्रगति तीव्र हो गई तो रंगून से प्रधान कार्यालय हटा लिया गया और रंगून खाली कर दिया गया। जापानी सेनापति और बर्मा सरकार २३ अप्रेल को रंगून से हट गई। श्री नेताजी और उनके साथियों ने २४ अप्रेल को रंगून छोड़ा। रंगून छोड़ने से पहले आपने अस्थायी सरकार के नाम पर जो खर्च हुआ था, उसका हिसाब साफ करदिया था। आज़ाद हिन्द सेना के ६००० सैनिक और अफसर रंगून में इसलिए

छोड़ दिए गए कि वे वहाँ के भारतीय नागरिकों की जान-माल की रक्षा करते रहें। ये सैनिक और अफसर मेजर जनरल लोकनायन की अध्यक्षता में थे। इनके सुप्रबन्ध के सम्बन्ध में यह बात खास तौर से उल्लेखनीय है कि, कि जब तक रंगून अँगरेजों के अधिकार में नहीं चला गया, तब तक वहाँ डकैती या लूटमार की कोई घटना नहीं होने पाई।

आजाद-हिन्द संघ का कार्य-भार श्री जे० एम० बहादुरी को सौंपा गया था। अँगरेजों के रंगून आने के बाद कुछ समय संघ का गैर-राजनीतिक काम चलने दिया गया। संघ ने वे पांच औषधालय जो बन्द हो गए थे, फिर चालू कर दिए। आजाद-हिन्द राष्ट्रीय बैंक ने भी जो अप्रैल १९४४ में स्थापित किया गया था, अपना काम जारी रखा। परन्तु १९ मई को अँगरेज सैनिक अधिकारियों ने उस पर कब्जा कर लिया। पीछे २८ मई को तो श्री बहादुरी और संघ के अन्य नेताओं की गिरफ्तारी हो जाने के कारण संघ का सभी कार्य समाप्त हो गया।

आन्दोलन की पूर्णाहुति—श्री० नेता जी के बेंकाक जाने की बात पहले कही गई है। १७ अगस्त १९४५ को आप वहाँ फौज के सब लोगों से मिले, और बड़ी मुश्किल से उन्हें आत्मसमर्पण के लिए राजी किया। १८ अगस्त को आप वहाँ से टोकियो के लिए रवाना हुए। पीछे समाचार मिला कि १९ अगस्त को फारमोसा के पास हवाई दुर्घटना में आप घायल हो गए, और उसी रात को स्वर्ग सिधारे। इस समाचार पर बहुत से आदमियों को सन्देह है।

आजाद हिन्द सेना के कितने ही आदमियों को ब्रिटिश सरकार ने फाँसी और लम्बी कैद की सजाएँ दीं। कुछ आदमियों पर सरकार ने दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चलाया। इनमें वीर सेनानी शाहनवाज सहगल और ढिल्लन भी थे। कांग्रेस की ओर से श्री भूलाभाई देसाई ने इनके मुकदमें की योग्यता और दृढ़ता पूर्वक पैरवी की। यह भी सिखाया गया कि ब्रिटिश सरकार की किसी अदालत को एक स्वतन्त्र सरकार के इन सैनिकों पर मुकदमा चलाने का कोई अधिकार ही नहीं है। पर

ब्रिटिश सरकार ऐसी बात कब सुनने वाली थी। उसने मुकदमे की कार्रवाई करके इन स्वाधीनता-प्रेमियों को आजन्म कारावास की सज़ा दी। परन्तु प्रबल भारतीय लोकमत का विचार करके जंगी लाट को यह सजा रद्द करके इन्हें रिहा करना पड़ा।

आजाद-हिन्द सैनिकों का मुक़दमा, १८५७ से तुलना — देहली के जिस लाल किले में आज़ाद-हिन्द फौज का मुकदमा चलाया गया, उसी में सन् १८५७ में सम्राट बहादुरशाह का मुकदमा हुआ था। उस मुकदमे ने एक राजवंश का घोर अपमान करके सारे देश में एक साम्राज्यवादी शक्ति के उदय की घोषणा की थी। सरकार ने सोचा था कि इस बार भी वह जनता पर आतङ्क जमा सकेगी; 'चलो दिल्ली' का नारा लगानेवाले और लाल किले पर तिरंगा झण्डा फहराने का विचार करनेवाले सैनिकों को दिल्ली के लाल किले में ही बन्दी करके, और सम्भवतः फाँसी देकर पराधीन जाति को राष्ट्रीय आन्दोलन करने का मजा चखाएगी। परन्तु वह इसमें बुरी तरह असफल रही। मुकदमे के समय उसे स्वाधीनता-आन्दोलन के वीर सिपाहियों की साहस-पूर्ण गौरव गाथा सुननी और यह कड़वी घूँट पीनी पड़ी। वह तो राजभक्ति और राजनिष्ठा की बातें सुनने की अभ्यस्त थी, जैसा कि प्रत्येक साम्राज्यवादी सरकार हुआ करती है। पर अब समय बदल गया था, उसे इस मुकदमे में साम्राज्यवाद के अस्त होने की सूचना मिली।

आन्दोलन का सुपरिणाम—श्री नेता जी ने २८ अक्तूबर १९४३ को एक प्रेस वक्तव्य में कहा था कि—'क्रांतिकारी सेना और आजाद-हिन्द सरकार की स्थापना के साथ मेरे जीवन के दो महान स्वप्न पूरे हो गए। तीसरे स्वप्न का पूरा होना बाकी है; वह है, अपने देश की आजादी के लिए युद्ध और उसकी प्राप्ति। युद्ध की भाषा का प्रयोग हम केवल आन्दोलन के लिए ही नहीं कर रहे हैं। हम अपने

मनोरथों को अपने कार्यों से पूरा करके दिखाएँगे।' नेता जी ने अपने इस तीसरे महान् स्वप्न की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न किया, उसका संक्षिप्त सा परिचय ऊपर दिया जा चुका है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि आजाद-हिन्द सेना का अपने उद्देश्य में—भारतवर्ष को आजाद करने में—सफलता नहीं मिली। परन्तु सामाजिक आन्दोलनों का मूल्यांकन इस प्रकार नहीं किया जा सकता। किसी किले पर शत्रु का अधिकार हो जाने पर उसे प्राप्त करने के लिए कभी-कभी कई-कई प्रयत्न करने पड़ते हैं, और यदि दसवीं बार की कोशिश में शत्रु हटाया जाता है तो उससे पहले की हुई नौ बार की कोशिश का भी अपना-अपना महत्व है। इससे कौन इनकार कर सकता है।

यदि हम केवल बाहरी सफलता का विचार करें तो यह स्पष्ट है कि आजाद हिन्द सेना को यह हाथ में आते-आते रह गई। बाहरी परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण इसमें जरा सी कमी रह गई। और एक दृष्टिकोण से तो यह अच्छा ही हुआ। डॉ० कैलासनाथ काटजू ने जो आजाद हिन्द सेना की पैरवी करने वाली कमेटी के एक प्रमुख सदस्य थे, लिखा है—'यदि उसकी मूल योजना सफल हो जाती तो बहुत रक्तपात होता, सम्भवतः उसे अपने ही देश में अनेक दिशाओं में विरोध का सामना करना पड़ता। उस समय अनेक प्रकार की पारस्परिक विरोधी भावनाएँ उठ खड़ी होतीं, और परस्पर विरोधी वर्ग बन जाते। इसके अलावा जापानियों का भी प्रश्न उठता।'

अस्तु, आजाद हिन्द सेना ने मलाया, बर्मा, स्याम, डच इंडोनेशिया, तथा फ्रेंच इंडोचीन आदि में फैले हुए उन बीस लाख भारतीयों के जीवन और स्वाभिमान की रक्षा की, जो सुदूर पूर्व में ब्रिटिश शासन का खात्मा होने के साथ सङ्कट में पड़ गए थे। इसने भारतवर्ष के करोड़ों आदमियों को नई स्फूर्ति प्रदान की, और पूर्वी एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला देने में काफी भाग लिया! कितने महत्व का काम था, यह!

आजाद-हिन्द-आन्दोलन ने भारतीय जनता के सामने साम्प्रदायिकता-निवारण की दिशा में जो पथ-प्रदर्शन किया है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह एक ही कार्य उसके नाम को भारतीय इतिहास में अमर करनेवाला है।

नेता जी की महानता—इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हमें नेता जी की उदार-हृदयता की ओर पाठकों को ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहले कहा गया है कि नेता जी ने जब अन्तिम बार भारत छोड़ा तो आपका म० गांधी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं से मतभेद था। पर उन्होंने अपने आजाद हिन्द आन्दोलन पर उसकी जरा भी छाया नहीं पड़ने दी। जैसा पहले बताया गया है, आपने सेना का सङ्गठन करते हुए, ब्रिग्रेडों के नाम म० गांधी, जवाहरलाल और मौलाना आजाद के नाम पर रखे। इसके अलावा नीचे दिए वक्तव्य में आपने म० गांधी को जिन भावपूर्ण शब्दों में याद किया है, यह आप जैसे सुयोग्य नेता के ही योग्य है। आपने कहा था—'गांधी जी इस युग के ऋषि हैं। उनकी अहिंसा सरकार की कमजोरियों को दूर कर सकती है, लेकिन यह तभी हो सकता है, जब हमारा देश स्वतन्त्र हो जाय, क्योंकि गुलामों की कोई कीमत नहीं करता। इसलिए हम मौत की मञ्जिल पार कर देश को स्वतन्त्र करेंगे। देश के स्वतन्त्र होने पर मणि-जटित सिंहासन पर बिठा, गङ्गा-जल से उनके चरण धोकर कहेंगे—'गुरुदेव! अब आप संसार का नेतृत्व करें। आपकी अहिन्सा की अब जरूरत है।"

इस नश्वर संसार में बहुत सी बातें विचार-जगत में ही रह जाती हैं। श्री नेताजी अपनी इस महान भावना को मूर्त-स्वरूप प्रदान नहीं कर सके। पर इससे नेताजी के हृदय की विशालता और उदारता में कोई अन्तर नहीं आता। वह चिरकाल तक याद रहेगी और भूले-भटकों का पथ-प्रदर्शन करेगी।

———

दसवाँ अध्याय

नौसैनिक संघर्ष और उसके बाद

वास्तव में इसी विद्रोह ने अँगरेजों के कान खड़े किए और पहली बार उन्होंने अनुभव किया कि अब फौजें भी हमारी नहीं रहीं। इस अनुभूति के बाद अँगरेजों ने भारत के साथ समझौता करने का सच्चे दिल से इरादा किया, और अन्त में १५ अगस्त १९४७ को भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर उन्हें इस देश से भागना पड़ा।

— डा० ताराचन्द

अब हमें भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलनों की अंतिम कड़ी का विचार करना है, जो सन् १९४६ के नौसैनिक संघर्ष के रूप में प्रगट हुई। इसे समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा बल आतङ्कवाद होता है। साम्राज्यवादी सरकारें पुलिस और सेना के बल पर जीवित रहती हैं। ये दो उसके खास लाड़ले विभाग होते हैं। इन पर मनमाना खर्च होता है। भारत में प्रत्येक गवर्नर सदा पुलिस की पीठ ठोंकता रहा है। और, सेना का तो पूछना ही क्या। भारतीय नेताओं के बार-बार के विरोध होते हुए भी, इस पर भारत की हैसियत और आवश्यकता से कहीं अधिक खर्च किया गया।

सेना पर कड़ा अनुशासन—भारत-सरकार ने सेना विभाग को ऐसा गुप्त रखा कि इसे किसी प्रकार की बाहरी हवा ही न लगे। सैनिकों को किसी सार्वजनिक कार्यकर्ता से बातचीत नहीं करने दिया जाता था। अधिकांश सैनिक अशिक्षित ही होते थे। उन्हें ऐसे अखबारों की बातें सुनाई जाती थीं जो सरकार के पिट्ठू हों और उसकी

भली-बुरी सब बातों का समर्थन करते हों। जो सैनिक कुछ पढ़े-लिखे होते थे, उन्हें भी कोई राष्ट्रीय पत्र-पत्रिका या पुस्तक पढ़ने की इजाजत नहीं थी। सरकार को डर था कि यदि सैनिकों में देश-प्रेम की भावना जग गई तो वे 'विद्रोह' कर बैठेंगे। इस दृष्टि से उनपर कड़ा अनुशासन रखा जाता था। ज़रा भी कहीं नियम-भंग की बात हुई तो ऐसा कठोर दंड दिया जाता था कि सब को शिक्षा मिल जाय और फिर कभी कोई वैसा विचार मन में न ला सके।

सैनिकों की भावना—देश में आजीविका के साधन बहुत परिमित होने से जिन्हें सेना में काम करने का मौका मिल सकता, वे इसे ही अपना लेते। पर समय-समय पर किसी के मन में यह आ ही जाता था कि हमारे अनेक भाई देश को आजाद करने के लिए तरह-तरह की यातनाएँ सहते हैं, हमारी बहिनें और माताएँ लाठियों और गोलियों की मार सहती हैं या अपने प्राण न्योछावर करती हैं, और हमें उनको कष्ट देने का औजार बनाया जा रहा है। जब कोई आदमी इस तरह सोचने लगता है, तो उसे जो वेदना होती है, उसे वही जानता है। कौन-जाने हमारे कितने सैनिकों ने समय-समय पर ऐसी वेदना अनुभव की होगी, और कितनों ने इसके फल-स्वरूप सेना से 'विद्रोह' किया होगा; इसके लिए उन्हें जो भी दंड भोगना पड़ा हो। अधिकतर ऐसा साहस अकेले-दुकेले वीरों ने किया है, और वह प्रकाश में नहीं आया। हम यहाँ नमूने के तौर से एक ही घटना का उल्लेख करते हैं—

१६३० में महात्मा गाँधी ने दूसरी बार असहयोग आंदोलन छेड़ा। इस बार भी अँगरेजों ने दिल खोलकर अत्याचार किए। जनता के प्रति शासकों का अत्याचार देखकर फौजी भी असन्तुष्ट हुए। पेशावर के दंगे के समय निहत्थी जनता पर धुवाँधार गोली-वर्षा करने के लिए १८ वें गढ़वाल राइफल्स को आदेश दिया गया तो १८ सैनिकों ने निहत्थों पर गोली चलाने से साफ इन्कार कर दिया और वक्तव्य में कहा—"हमारी कोई इज्जत नहीं है। जब भारत को स्वराज्य मिल जायगा तो

हम मेहतर होंगे। अगर पेशावर के आदमी सशस्त्र कर दिए जायँ तो हम सहर्ष उन पर गोली चलाने के लिए तैयार हो जायँगे। लेकिन हम बच्चों और भिखमँगों पर गोली चलाने को तैयार नहीं हैं। भारतीय फौज को बहुत कम वेतन दिया जाता है, और उसकी कोई इज्जत नहीं है। यह भारत की रक्षा के लिए लड़ने के उद्देश्य से बनाई गई है। इसका काम निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नहीं है।"

सेना में रंग-भेद—ब्रिटिश सरकार भारतीय सैनिकों और अँगरेज सैनिकों से व्यवहार में जमीन-आसमान का फर्क रखती थी। 'काले' आदमियों को जितना वेतन और भत्ता आदि दिया जाता था, उसकी अपेक्षा उसी प्रकार के काम के लिए गोरे सैनिकों को कई गुना अधिक दिया जाता था। उनके सुख और सुविधाओं की पूरी व्यवस्था की जाती थी। इसके विपरीत, काले आदमियों को गाली देना और उनका बात-बात में अपमान किया जाना मामूली बात थी। गुलामी में जीवन बिताने वालों को धीरे-धीरे अपना अपमान सहने की आदत पड़ जाती है। तो भी भारतवासी ऐसी जड़ता की अवस्था को नहीं पहुँचे कि वे ऐसी बातों पर कभी विचार ही न करें। वे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन और सन् १६४२ की क्रान्ति से बिलकुल बेखबर नहीं थे। अब तो उन्हें आजाद-हिन्द फौज के शानदार कारनामों का भी थोड़ा बहुत परिचय मिल गया था।

परन्तु सरकार और सेना के गोरे सैनिक अफसर तो अभी पुराने विचारों के ही बने हुए थे। वे समझते थे कि भारतीय सेना के ये काले आदमी पहले की तरह कष्ट सहते रहेंगे, और अपमान की घूँट पीते रहेंगे। इनमें स्वाभिमान की भावना जाग्रत होने की कोई बात ही नहीं है। किन्तु आनेवाली घटना ने बतला दिया कि हवा का रुख कितना बदल गया है।

नौसैनिक संघर्ष—११ फरवरी १६४६ को बम्बई में 'तलवार' जहाज के कमांडर किंग नामक गोरे ने कुछ भारतीय नौसैनिकों को

'कुली का बच्चा' तथा 'कुत्ते का बच्चा' आदि कह कर गालियाँ दीं। उसकी दृष्टि में यह कोई खास बात नहीं थी; काले हिन्दुस्तानियों को गोरा कमांडर चाहे जो कह सकता था, काले लोगों को गोरों की, और खासकर गोरे कमाँडर की सब बातें चुपचाप सहनी चाहिएँ। उसे आश्चर्य हुआ यह देखकर कि काले हिन्दुस्तानियों ने उसके ऐसे व्यवहार की शिकायत की। अस्तु, नौसैनिकों की शिकायतों की कोई सुनवाई नहीं हुई। इससे नौसैनिकों में असन्तोष बढ़ा और उनके संघर्ष का सूत्रपात हो गया।

नौसैनिकों की हड़ताल और माँगें—१८ फरवरी को भारतीय नौसैनिकों को जो नाश्ता दिया गया, वह बहुत खराब था। इसपर ११०० नौसैनिकों ने हड़ताल कर दी, काम करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने अपनी माँगें इस प्रकार रखीं—

१—खाना ढँग का तथा अच्छा दिया जाय।

२—कमांडर किंग ने जो दुर्व्यवहार किया है, उस पर विचार तथा आवश्यक कार्रवाई की जाय।

३—गोरों और भारतीयों का भेद-भाव हटाकर दोनों प्रकार के सैनिकों को समान वेतन दिया जाय।

४—सब राजनैतिक कैदी, जिनमें आजाद-हिन्द फौज के कैदी भी हैं, फौरन रिहा कर दिए जायँ।

५—हिन्द-एशिया से सब भारतीय फौज वापिस बुला ली जाय, और भविष्य में भारतीय फौज कभी ऐसे काम पर न भेजी जाय।

इन माँगों से यह स्पष्ट है कि हड़तालियों को केवल अपने समूह का लाभ अभीष्ट न था। उनका दृष्टिकोण व्यापक था। वे सेना में 'गोरों की श्रेष्ठता' नहीं रहने देना चाहते थे, वे देश की आजादी के लिए किसी का कैद किया जाना नापसन्द करते थे, और दूसरे देशों को पराधीन बनाने के लिए भारतीय सैनिकों का उपयोग किया जाना सहन नहीं कर सकते थे। यह तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर घातक प्रहार था!

हड़ताल का विस्तार; जनता की सहानुभूति – हड़ताल क्रमशः फैलती गई। कई जहाजों तक इसका विस्तार हो गया। नौसैनिकों ने अफसरों के हथियार छीन लिए और जहाजों पर अपना पहरा बैठा दिया। कई स्थानों में ब्रिटिश झंडा उतार कर भारत का तिरंगा राष्ट्रीय झंडा फहराया गया। शहर में जलूस निकले। सार्वजनिक सभाएँ हुईं। प्रत्येक जहाज में केन्द्रीय हड़ताल-कमेटी का संगठन किया गया। यहाँ का समाचार पाकर कराची के भी नौसैनिकों ने जहाजों में हड़ताल करदी। हड़ताल की लहर कलकत्ता, कोचीन, विजगापट्टम और जामनगर भी पहुँची। गोरी फौज और भारतीय नौसैनिकों में लड़ाई हुई। जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उकताई हुई थी। नौसैनिकों की सहानुभूति में उसने भी हड़ताल की; २१ फरवरी को लाखों मज़दूरों ने हड़ताल की। बम्बई और कराची में गोरे फौजियों द्वारा गोली चलाई गई।

हमें यहाँ इस तरह की सब बातों का ब्यौरा न देकर यही कहना है कि अँगरेजों के शासन में, भारत में यह घटना अपने ढंग की अनूठी थी। इसका क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता गया। न-मालूम वह कहाँ तक बढ़ता। आखिर, श्री० सरदार पटेल और अन्य नेताओं ने बीच में पड़ कर नौसैनिकों को शान्त किया।

नौसैनिक संघर्ष की प्रतिक्रिया—अंगरेजी शासन ने सन् १८५७ के बाद आतंककारी युवकों के अनेक कार्य देखे, म० गांधी के नेतृत्व वाला सत्याग्रह और असहयोग देखा, सन् १९४२ की क्रान्ति देखी, पर उन सब कामों से वह यही समझे हुए था कि केवल नागरिक (असैनिक) जनता में उसके प्रति विरोध की लहर बढ़ती जा रही है। इसकी रोकथाम के लिए उसने देशी राज्यों की, साम्प्रदायिक मुसलमानों आदि अल्पसंख्यकों की, और हरिजनों आदि दलित जातियों की समस्या-रूपी दीवारें खड़ी कर रखी थी। उसे अन्तिम सहारा तो अपनी लाड़ली पुलिस और उससे भी बढ़कर फौज का था। पर, यह क्या! उसका अन्तिम अवलम्ब भी जवाब देने लगा। अब अपने पावों के नीचे की

जमीन खिसकते देखकर उसे निश्चय हो गया कि यहाँ गुजर नहीं हो सकेगी। अब भारत छोड़ना ही पड़ेगा। पर चतुर-चालाक कूटनीतिज्ञों की तरह अँगरेजों ने सोचा, कि 'जब सभी छिन जाने वाला हो, तो स्वयं आधा छोड़ देने में बुद्धिमानी है।' बस, अँगरेजों के इसके बाद के सब कामों का रहस्य इस दुरंगी नीति में रहा कि भारत को छोड़ना ही है तो क्यों न इसे अंग-भंग करके कमजोर बनाकर छोड़ा जाय। यही कारण है कि उन्होंने मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन दिया। पाकिस्तान बनना इतना श्री जिन्ना की विजय का चिह्न नहीं है, जितना अँगरेजों की कूट-नीति का स्थायी स्मारक है।

मंत्रिमिशन और राष्ट्रीय सरकार—मार्च १९४६ में ब्रिटिश मंत्रिमिशन यहाँ आया और नया विधान बनाने की योजना पर भारतीय नेताओं से विचार-विनिमय करने लगा। उसने नया विधान बनने तक कांग्रेस और मुस्लिम लीग से सम्मिलित अस्थायी सरकार बनाने को कहा; और, उनके द्वारा न बनाए जाने पर १६ जून १९४६ को १४ सदस्यों की अन्तर्कालीन सरकार बनाने की योजना उपस्थित की। इसमें मुसलमानों के पांचों प्रतिनिधि श्री० जिन्ना की मर्जी के रखे गए और कांग्रेस को यह अधिकार भी नहीं दिया गया कि वह अपने हिस्से के प्रतिनिधियों में एक स्थान राष्ट्रीय मुस्लिम को भी दे। यह योजना वेवल-योजना की तरह असफल रही।

अगस्त १९४६ के मध्य में वायसराय ने राष्ट्र-पति जवाहरलाल नेहरू को अन्तर्कालीन सरकार का संगठन करने को कहा; और, २ सितम्बर को १२ सदस्यों की राष्ट्रीय सरकार बनाली गई। अक्तूबर में जब मुस्लिम लीग ने इसमें शामिल होना चाहा तो उपर्युक्त सदस्यों में से तीन को हटाकर उसके ५ सदस्य ले लिए गए। इस प्रकार १४ सदस्यों की राष्ट्रीय सरकार काम करने लगी।

भावी विधान-योजना—मई १९४६ में मंत्रिमिशन ने भारत का भावी विधान बनाने के लिए विधान-सभा के संगठन की योजना

बनाई थी। 'ब्रिटिश भारत' के सदस्यों की संख्या २९२ निश्चित की गई—दस लाख व्यक्तियों पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से। देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या ९३ निश्चित हुई। इस योजना में प्रान्तों को तीन समूहों में बाँटा गया, जिनमें से पूर्वी और पश्चिमी समूहों में ऐसे प्रान्तों का समावेश किया गया, जिनमें कुल मिलाकर मुस्लिम बहुमत था। इस योजना में कई दोष थे। परन्तु स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से कांग्रेस ने इस योजना को अन्त में स्वीकार कर लिया। विधान-सभा की कार्रवाई ९ दिसम्बर १९४६ से देहली में आरम्भ हुई।

दो राज्य; भारतीय संघ और पाकिस्तान—मुस्लिम लीग मंत्रिमिशन-योजना का विरोध, और पाकिस्तान के लिए आन्दोलन, करती रही। २० फरवरी १९४७ की ब्रिटिश सरकार की घोषणा में कहा गया कि जून १९४८ तक शासनसत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपी जायगी। इसमें पाकिस्तान की बात न होने से इससे लीग को संतोष न हुआ। आखिर, ३ जून १९४७ को लार्ड माउंटबेटन ने विधान सम्बन्धी नई योजना उपस्थित की। इसके अनुसार १५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष विभक्त होकर इसके दो राज्य बन गए—भारतीय संघ, और पाकिस्तान। पाकिस्तान के पूर्वी भाग में पूर्वी बंगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग है। इसके पश्चिमी भाग में पश्चिमी पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान, और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त हैं। पाकिस्तान का विधान, उसकी विधान-सभा कराची में बनाने लगी।

देशी राज्यों में स्वाधीनता-आन्दोलन—देशी राज्य तो दोहरी पराधीनता में थे—अँगरेजों की, और राजाओं की। 'ब्रिटिश भारत' में हो रहे स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रभाव उनपर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। राजपूताने की रियासती जनता ने सत्याग्रह आन्दोलन में ब्रिटिश भारत से भी पहले कदम बढ़ाया था। धीरे-धीरे विविध देशी राज्यों के निवासियों ने अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों को निवारण

करने के लिए क्रमशः स्थानीय, प्रादेशिक और अखिल भारतवर्षीय संगठन बनाए। कांग्रेस ने पहले रियासती मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति ठीक समझी, पर जब कि वह भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए लड़ने का दावा करती थी, तो वह इस देश की एक-तिहाई जनता के प्रति आखिर कब तक उदासीन रहती! कांग्रेस ने रियासती मामलों में उत्तरोत्तर अधिक भाग लिया। उसके नेताओं ने समय-समय पर रियासती जनता के आन्दोलनों का नेतृत्व किया। हां, कांग्रेस की यह धारणा रही कि राजा लोग तो अँगरेजों के हाथ की कठपुतली हैं, अँगरेजी शासन हटने पर वे स्वयं ठीक हो जायंगे, और उन्हें ठीक होना ही पड़ेगा। पीछे समय ने सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस की यह धारणा ठीक थी।

देशी राज्यों में जनसत्तात्मक शासन—१५ अगस्त १६४७ को यहाँ से हटते समय ब्रिटिश सरकार ने लगभग छः सौ रियासतों को 'स्वतंत्र राज्य' बना कर तथा उन्हें अपना भविष्य स्वयं निर्धारित करने की छूट देकर भारतीय सङ्घ की एकता के लिए काँटे बोने में कोई कसर न रखी। परन्तु नई भारत सरकार के रियासती विभाग के अध्यक्ष सरदार पटेल ने विलक्षण कुशलता से सब रियासतों को भारतीय सङ्घ में मिलादिया तथा थोड़े ही समय में आधी दर्जन बड़ी-बड़ी रियासतों को छोड़कर शेष सबको पास के प्रान्तों में मिला लिया या उन्हें बड़े-बड़े रियासती संघों में संयुक्त कर दिया, जिनमें जनसत्तात्मक शासन चालू हो रहा है।

विशेष वक्तव्य—ईश्वर को धन्यवाद है कि नब्बे वर्ष के आन्दोलन के बाद भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया और स्वतन्त्र होने के बाद उसने अपनी विशृङ्खलता दूर करने में सफलता प्राप्त की। भारतीय संघ संसार का सबसे महान प्रजातन्त्रात्मक राज्य है। उसके सभी भागों में लोकसत्तात्मक शासनपद्धति प्रचलित हो रही है।

ग्यारहवाँ अध्याय

उपसंहार

वास्तव में मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति का इतिहास अहिन्सा और प्रेम के क्रमागत विकास का इतिहास है; वह पशुता तथा हिन्सा से धीरे-धीरे हटते जाने और मानवता अर्थात् अहिन्सा की ओर धीरे-धीरे बढ़ते जाने का भी इतिहास है।

—लोकवाणी

सब शहीद आदरणीय हैं—किसी देश (या व्यक्ति) की स्वाधीनता को अपहरण करना अनुचित है, अक्षम्य है, घोर अपराध है। सबको आज़ाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि पराधीन देश को अपनी आज़ादी हासिल करने का पूर्ण अधिकार है। वह इसके लिए कुछ खास उपायों का ही अवलम्बन करे, और अन्य उपायों का उपयोग न करे; इस प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

अब से कुछ समय पहले तक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हिन्सात्मक साधनों का उपयोग ही एकमात्र उपाय समझा जाता था, और किसी विचारशील ने इस पर कुछ आपत्ति करने का साहस नहीं किया था। हाँ, स्वार्थी, लोभी और साम्राज्यवादी व्यक्तियों, संस्थाओं और सरकारों में निरपक्ष विचार करने की क्षमता नहीं होती, इसलिए उनकी बातों का कुछ महत्व नहीं है। अस्तु, जिन शहीदों—पुरुषों और महिलाओं—ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया है, वे सब हमारी दृष्टि में ही नहीं, प्रत्येक न्याय-प्रमी की दृष्टि में आदरणीय और पूजनीय हैं।

भारतीय स्वाधीनता और अहिन्सा—हमारा आधुनिक स्वाधीनता-आन्दोलन सन् १८५७ से आरम्भ होकर सन् १९४७ में पूरा हुआ। इसका श्रीगणेश हिन्सात्मक युद्ध से हुआ। उस जमाने में लोगों को लड़कर ही स्वाधीनता प्राप्त करने में विश्वास था। उसके बाद हिन्सात्मक और अहिन्सात्मक दोनों ही प्रकार की पद्धतियों का उपयोग हुआ, पर खासकर गांधीयुग में अहन्सा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। विरोधी पक्ष की क्रूरताओं के सामने भी भारतीय जनता ने प्रायः कैसे संयम से काम लिया, सीमाप्रान्त के वीर पठानों ने कैसी विलक्षण अहिन्सा का परिचय दिया, यह इतिहास की अमर कहानी है। सन् १९४२ में म० गांधी तथा अन्य नेताओं से अकस्मात वंचित किए जाने पर; लोगों ने अपने स्वाधीनता-प्रेम का परिचय अपने-अपने ढंग से दिया। इस समय कुछ दशाओं में हिन्सात्मक घटनाओं का बोलबाला रहा, ऐसा मालूम हुआ। परन्तु हम जरा सोचें कि इस आन्दोलन में भी जनता द्वारा हिन्सा कितनी कम हुई है। ऐसे बड़े देश में, आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार से स्वाधीनता लेने में हिन्सा कितनी अधिक हो सकती थी, इसकी कल्पना भी भयंकर है। हम इसे दैवी अनुग्रह समझते हैं, और भारतीय जनता तथा ब्रिटिश जनता दोनों के लिए गांधीवाद को एक बड़ा बरदान मानते हैं, जिसकी बदौलत बहुत उग्र, विकराल और व्यापक हिन्सा-कांड रुक गया। कुल मिलाकर देखें तो पिछले तीस वर्ष से हमारा राजनैतिक आन्दोलन अहिन्सात्मक ही अधिक रहा है—हमारे स्वाधीनता-संग्राम की नीति अहिन्सा पर आधारित रही है।

पराधीन देशों को संदेश—भारतवर्ष ने म० गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त करके संसार के पराधीन देशों को एक नई राह दिखाई है। अभी कितने ही भू-खंडों पर साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व है। इनके निवासियों के लिए भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की कथा एक आशामय संदेश है। पराधीन बंधुओ! उठो! अपनी मुक्ति के लिए

कटिबद्ध हो जाओ, अहिन्सात्मक उपायों से आजादी हासिल करो, और उन अभागों को भी मुक्ति प्रदान करो जो तुम्हें अपने चंगुल में फंसाए हुए हैं, वे अज्ञान-वश ऐसा सोचते हैं कि दूसरों को अधीन बनाने में हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है, पर वास्तव में यह उनका भ्रम है। दूसरों को गुलाम बनाने वाले स्वयं अपनी भी हानि ही करते हैं, उनमें ऐश्वर्य, विलासिता बढ़ती है, वे दूसरों के ईर्ष्या-पात्र बनते हैं, उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिलती, उनके नैतिक गुणों का ह्रास होता है ऐसा जीवन भी कोई जीवन है!

हिन्सा द्वारा स्वाधीनता का आन्दोलन करने में सदा इस बात की सम्भावना बनी रहती है कि शासकों का अत्याचार और अधिक बढ़े, और पराधीनता अधिक स्थायी हो जाय। यदि इससे स्वाधीनता मिल भी जाय तो नैतिक पतन की बहुत आशंका होती है। अनेक बार जिन लोगों ने हिन्सा-मार्ग से अपने देश को स्वाधीन किया, वे ही पीछे उसके लिए संकट बन गए। हिन्सा सफल होकर भी असफल रही। और, अहिन्सा? वह तो कभी असफल होना जानती ही नहीं। जब वह प्रत्यक्ष में सफल नहीं होती तो भी अपने सैनिकों का नैतिक स्तर ऊंचा करती है, और विरोधियों में द्वेष, दुर्भावना आदि दुर्गुणों को नहीं बढ़ाती। और, जब अहिन्सा प्रत्यक्ष में सफल हो जाती है, तब तो कहना ही क्या! वह दोनों पक्ष का उद्धार करती है। इस प्रकार अहिन्सात्मक आन्दोलनों में ही मनुष्य जाति का कल्याण और विकास निहित है। पराधीन देशवासियों को इसे ही अपनाना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—भारत को स्वाधीन करने में कुछ ऐसे व्यक्तियों तथा संस्थाओं का भी खासा भाग रहा है, जो कुछ विशेष कारणों से कांग्रेस में शामिल नहीं हुए, या शामिल होने के बाद इससे अस्थायी या स्थायी रूप से अलग हो गए।। तथापि कांग्रेस ही ऐसी संस्था है जिसका बासठ वर्ष का सुदीर्घ जीवन भारतीय स्वाधीनता का इतिहास बना है। सन् १९४७ में भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने के बाद कांग्रेस

की पुराने संघर्षमय रूप में आवश्यकता नहीं रही। परन्तु देश के नव-निर्माण के लिए इसकी आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता के लिए तो कांग्रेस जैसी संस्था की आवश्यकता है ही। हाँ, पहले अधिकतर जेल जाने, लाठी-मार सहने, गोलियों का शिकार होने, जन्मभूमि से दूर कालेपानी में दिन काटने के लिए तैयार रहना पड़ता था। अब जरूरत है, सेवा और त्याग-भाव से जीवित रहने की और दीनदुखी भाइयों और बहिनों का कष्ट दूर करते हुए देश में रामराज्य स्थापित करने की। कांग्रेसी कहलाने वाले प्रत्येक सज्जन को—और प्रत्येक भारत-संतान को कांग्रेसी कहलाने में गर्व अनुभव करना चाहिए—उत्तरदायित्व स्पष्ट है। उसे उसका अच्छी तरह पालन करना चाहिए।

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अङ्कित है। इस तिथि सहित १५ वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ६ नये पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (दसवाँ संस्करण)	...	४)
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा सं०)	...	||=)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (नवाँ सं०)	...	२)
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा सं०)	...	२)
भारतीय सहकारिता आन्दोलन (तीसरा सं०)	...	३||)
भारतीय जागृति (पाँचवाँ सं०)	...	२||)
निर्वाचन पद्धति (पाँचवाँ सं०)	...	१)
नागरिक कहानियाँ	...	||=)
श्रद्धाञ्जलि	...	|||=)
राजनीति शब्दावली (तीसरा सं०)	...	२||)
नागरिक शिक्षा (छठा सं०)	...	१||)
राष्ट्रमंडल शासन (पांचवाँ सं०)	...	१||)
अर्थशास्त्र शब्दावली (तीसरा सं०)	...	१|||)
कौटल्य के आर्थिक विचार (तीसरा सं०)	...	२)
अपराध चिकित्सा	...	१||)
भारतीय अर्थशास्त्र (पाँचवाँ सं०)	...	५)
साम्राज्य और उनका पतन (दूसरा सं०)	...	२||)
मातृवन्दना (चौथा सं०)	...	||)
देशी राज्य शासन (दूसरा सं०)	...	३||)
विश्व-सङ्घ की ओर	...	२||)
भावी नागरिकों से (दूसरा सं०)	...	१||)
इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति	...	१)
मनुष्य जाति की प्रगति	...	३||)
गाँव की बात (दूसरा सं०)	...	||)
नागरिक शास्त्र (दूसरा सं०)	...	२|)
देशी राज्यों की जन-जागृति	...	५)
व्यवसाय का आदर्श	...	१)

भगवानदास केला; भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग